ॐ

ओंकार का परिचय

सभी वेदों में अंतिम है अथर्ववेद, उसका अंतिम भाग अथर्वशिखोपनिषत् है। अत: यह वेदों का अंतिम सन्देश है। इसमें गुरु-शिष्य-संवाद के रूप में विषय का वर्णन है -

अथ हैनं पैप्पलादोऽङ्गिराः सनत्कुमारश्चाऽथर्वाणम् उवाच - भगवन् ! किमादौ प्रयुक्तं ध्यानं ध्यायितव्यं, किन्तद्ध्यानं, को वा ध्याता, कश्च ध्येयः ।। १।।

महर्षि पैप्पलाद, अंगिरा और सनत्कुमार उत्तम साधक थे। साधना की सफलता के लिए अपेक्षित जो शुद्धि चाहिए उसके लिये सत्कर्मों का अनुष्ठान आदि सारी चेष्टा वे कर चुके थे, उनमें वे सारे गुण भरपूर हो चुके थे जो श्रेष्ठ से श्रेष्ठ साधना का अभ्यास करने के लिए चाहिये और जिनके होने पर साधना सफल होती है। उन्होंने शिष्य की योग्यता अपने में लाकर महर्षि अथर्वा की शरण में जाकर उनसे प्रश्न किया। शास्त्रों मे अधिकार के भेद का विचार स्पष्ट है। जो जिस ज्ञान का अधिकारी नहीं वह पूछे भी तो उसे जवाब न देना हम लोग उचित मानते हैं। अधिकारी की ही जिज्ञासा को शान्त करना गुरु का कार्य है। यहाँ श्रुति ने 'अथ' - शब्द से बताया कि पैप्पलाद आदि महर्षि अधिकारी थे, साधनों से सम्पन्न थे। ब्रह्मसूत्र का आरंभ भी अथ शब्द से है, उसका अर्थ भगवान् भाष्यकार ने बताया है - विवेक,

वैराग्य, शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धा और मुमुक्षा - ये सब प्राप्त करने के अनंतर, बाद में। यहाँ भी अथ का वही अभिप्राय है। पैप्पलाद आदि सब, विवेकादि शिष्यगुणों को स्वयं में लाकर तब अथर्वा महर्षि के पास गये। ब्रह्मविद्या में सर्वाधिक कुशल उपदेष्टा के रूप में अथर्वा ऋषि अत्यन्त प्रसिद्ध थे।

सबसे पहले मुमुक्षुओं द्वारा कौन सा ध्यान ध्यातव्य है? - यह प्रथम प्रश्न महर्षियों ने रखा। यह भी पूछा कि वह ध्यान क्या है, उस ध्यान को करने वाला कौन है और उस ध्यान का विषय क्या है? इन बातों का निर्णय उन्होंने अथर्वा से बताने के लिए प्रार्थना की।

स एभ्योऽथर्वा प्रत्युवाच - ओमित्येतदक्षरमादौ प्रयुक्तं ध्यानं ध्यायितव्यम् इत्येतदक्षरं परं ब्रह्म, अस्य पादाश्चत्वारो वेदाः, चतुष्पादिदमक्षरं परं ब्रह्म ।। २।।

पैप्पलाद आदि तीनों को अथर्वा ऋषि ने प्रश्न के अनुकूल जवाब दिया। **ॐ** यह अक्षर ही सबसे पहले ध्यान के योग्य है। वेदों में **ॐ** को ब्रह्म का प्रतीक कहा है। छान्दोग्य उपनिषत् में **ॐ** को ब्रह्म का प्रियतम नाम बताया है, जिस नाम के ग्रहण से परमेश्वर अत्यन्त प्रसन्न होता है। भगवान् पतंजलि ने 'तस्य वाचक: प्रणव:' कहकर परमेश्वर का वाचक ओंकार को ही बतलाया है। यही अक्षर 'प्रयुक्त' है अर्थात् ईश्वर की इच्छा से सबसे पहले

इसी का आविर्भाव हुआ। इसी के लिए कहा है 'यो वेदादौ स्वर: प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठित:' वेदपाठ के प्रारंभ व समापन में ओंकार के उच्चारण का विधान है। क्योंकि ईश्वरेच्छा से यही सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ इसलिए मोक्षेच्छुकों को चाहिये कि सबसे पहले इसी का ध्यान करें। ओंकार अक्षर इसलिए है कि वेदमंत्रों के जप आदि के समय मंत्र से पहले और पीछे अगर ओंकार का उच्चारण न किया जाये तो मंत्र का क्षरण हो जाता है, वह बह जाता है। यह मनु ने भी कहा है। मंत्र के आगे-पीछे लगाने से ओंकार उस मंत्र को क्षरित नहीं होने देता इसलिये यह अक्षर है - जिसके प्रभाव से मंत्र का क्षरण न हो वह अक्षर है। इसे परब्रह्म भी कहा है। अन्यत्र भी वेद में ओंकार को पर और अपर ब्रह्म बताया है क्योंकि वाच्यरूप से वह परमेश्वर को कहता है और लक्ष्यरूप से परब्रह्म का बोध कराता है। यहाँ अथर्वा ऋषि ने 'परं ब्रह्म' कहा है लेकिन उपलक्षणा से अपर ब्रह्म भी ओंकार है यह अभिप्रेत ही है। सगुण और निर्गुण दोनों ब्रह्मध्यानों के लिये ओंकार सहारा बन जाता है। ओंकार के ध्यान दोनों प्रकार से किये जा सकते हैं - लिपिरूप का ध्यान और ध्वनिरूप का ध्यान। प्रथम प्रकार के लिये ध्यान करना चाहिये कि स्वर्णाक्षर में ओंकार लिखा हुआ है, वह जाज्वल्यमान है अर्थात् चमकदार है; यह विचार करते हुए उस पर त्राटक का अभ्यास करना चाहिये । यह ध्यान और त्राटक बढ़ाते जाना चाहिये।

दूसरे प्रकार के ध्यान के लिये प्रणव का उच्चारण करना पड़ेगा। उसे बोलते हुए, उसकी ध्वनि कान से सुनते हए, और किसी आवाज़ को न सुनकर मन को सर्वथा उसी ध्वनि पर एकाग्र करना पड़ेगा। मानव का स्वभाव ऐसा है कि नाम और रूप - ये दो ही चीज़ें इसे आकृष्ट करती हैं। नाम शब्दात्मक है, रूप वह है जो बाह्य आकारादि दीखते हैं। ओंकार के भी इसलिये दोनों तरह से ध्यान संभव हैं। लिपिबद्ध प्रकार इसका रूप है और उच्चारित ध्वनि इसका नाम है। पर-अपर ब्रह्म होने से इसी का ध्यान करना चाहिये।

ओंकार में तीन अक्षरों की कल्पना की जाती है अ, उ, म्। संस्कृत के सन्धि-नियमों के अनुसार अ और उ का मिलकर ओ रूप बनता ही है। अत: ओ में अ और उ की कल्पना बहुत सहज है। अकार का उच्चारणस्थान कण्ठ और उकार का ओष्ठ है। हमारे द्वारा उच्चरित सब ध्वनियाँ कण्ठ, ओष्ठ और इनके मध्य के स्थानों वाली ही होती हैं अर्थात् या कण्ठ से निकलती है या ओष्ठ से या इनके मध्य के किसी स्थान से। इसलिये अकार और उकार से सभी स्वर-व्यंजनों का संग्रह हो जाता है। जिस ध्वनि में नासिका का प्रयोग होता है उसका संग्रह करने के लिये मकार है। ङ्., ञ्, ण्, न्, म् अनुस्वार और अनुनासिक (जो अर्धचन्द्र से सूचित होती है) - इन ध्वनियों में नासिका का उपयोग स्पष्ट है। ओम् में मकार

का ग्रहण इन सभी ध्वनियों के अन्तर्भाव के प्रयोजन से है। इस प्रकार ओंकार सभी ध्वनियों को, ध्वनिमात्र को बताता है।

इतना ही नहीं, भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा है 'सकारं च हकारं च लोपयित्वा प्रयोजयेत्'; यदि 'सोऽहम्' में सकार और हकार का लोप कर दें तो ओ और म् यों **ॐ** ही बच जाता है। सकार तत्पद को कहता है, परमेश्वर को बताता है क्योंकि तत्-शब्द परोक्ष को विषय करता है, परोक्ष चीज़ को तत् (= वह) कहते हैं। नित्य अपरोक्ष जो हमारा अपना स्वरूप है उसे अहम् (= मैं) बताता है। परोक्ष परमेश्वर और अपरोक्ष मैं - इन दोनों में सर्वथा अभेद है इस बात को **ॐ** बताता है। व्यष्टि-समष्टि की एकता **ॐ** का अभिप्राय समझ आता है।

उक्त रहस्य को समझाने वाला होने से **ॐ** को चार पादों वाला बताया गया है। इसके तीन पाद व्यष्टि-समष्टि के रूप में ये हैं - विश्व-वैश्वानर, तैजस-हिरण्यगर्भ और प्राज्ञ-ईश्वर। विश्व-तैजस-प्राज्ञ व्यष्टि अवस्था को बताते हैं और वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-ईश्वर समष्टि अवस्था को कहते हैं। इनकी परस्पर एकता अकार-उकार-मकार बताते हैं। चौथा पाद वह है जिसमें इनकी एकता प्रतिष्ठित है। वह चैतन्य ही है। जो चैतन्य जाग्रद् अवस्था में शरीर-इंद्रिय-मन की उपाधि में प्रतीत होता है वही चैतन्य स्वप्न में केवल मन से, मन के संस्कारों से

सृष्टि-स्थिति-लय करता हुआ प्रतीत होता है, वही चैतन्य सुषुप्ति में यह कुछ भी न करते हुए केवल आनंद से स्थित होते हुए अज्ञान को प्रकाशित करते हुए प्रतीत होता है। सुषुप्ति से उठकर यह महसूस करते और कहते भी हैं कि 'वहाँ मैंने कुछ नहीं जाना' अर्थात् वहाँ केवल अज्ञान था यही सत्यापित करते हैं। इन तीनों अवस्थाओं से उस चैतन्य का व्यक्तीभवन होता है परंतु स्वरूप से वह चैतन्य निर्विकार एक सा ही रहता है। माला की मणियों में धागे की तरह उक्त तीनों में एक जैसा रहने वाला होने से चैतन्य को तुरीय अर्थात् चौथा कहते हैं। तीनों में रहने वाला होने से उन तीनों से अलग है इसलिये चौथा है। इस चौथी वस्तु को सामान्य रूप से अवस्था नहीं कह सकते फिर भी समझने-समझाने के लिये इसे इसी तरह बतलाना पड़ता है।

अकार, उकार, मकार और तुरीय-इन चार पादों में चारों वेदों की दृष्टि करनी है, मानो वे ही इस ओंकार के चार पैर हैं। इस प्रकार यह अक्षर परब्रह्म है एवं उपासना के लिये यही अपर ब्रह्म है।

तीसरे वाक्य से प्रारंभकर इन्हीं मात्राओं के बारे में विस्तार करते हैं -

पूर्वाऽस्य मात्रा पृथिव्यकार: स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री **गार्हपत्य: ।।३।। द्वितीयाऽन्तरिक्षं स उकार: स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णू** रुद्रास्त्रिष्टुब् **दक्षिणाऽग्नि: ।।४।। तृतीया द्यौ: स मकार: स सामभि: सामवेदो रुद्र आदित्या जगत्याहवनीय: ।।५।।**

सबसे पहली मात्रा अकार पृथ्वीरूप है, वेदों में वह ऋग्वेदरूप है, ब्रह्मा उसके देवता हैं, आठ वसु इसके उपदेवता हैं। बृहदारण्यकोपनिषत् में तैंतीस देवता बताये गये हैं - आठ वसु, बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, इन्द्र और प्रजापति। वसु-रुद्र-आदित्य देवताओं के समूह हैं, गण हैं। इन गण-देवताओं में से वसुओं का सम्बन्ध अकार से है, रुद्रों का उकार से और आदित्यों का मकार से है। अकार में गायत्री छंद की दृष्टि करनी है और गार्हपत्य-नामक अग्नि की दृष्टि करनी है। इस तरह प्रधान वैदिक देवताओं के साथ वैदिक यज्ञों की प्रधान तीनों अग्नियों की दृष्टि भी ॐ में करने का यहाँ विधान किया जा रहा है। अकार आादि तीन मात्राओं के बारे में सातवें वाक्य में पुन: कुछ विशेषताएँ कही हैं -

प्रथमा रक्त पीता महद्ब्रह्मदैवत्या। द्वितीया विद्युमती कृष्णा विष्णुदैवत्या। तृतीया शुभाशुभा शुक्ला रुद्रदैवत्या।

अकार में रक्त-पीत अर्थात् गेरू रंग की दृष्टि करनी हैं। लाल-पीला मिलने से गेरू रंग बन जाता है। महान् ब्रह्मा अकार के देवता हैं। यद्यपि पहले भी ब्रह्मा को देवता कहा तथापि यहाँ पुन: कहकर बताया कि अपनी शक्ति समेत ब्रह्मा इसके देवता हैं। संस्कृत भाषा में देव की शक्ति को भी देवता कहते हैं। जैसे मानव-पशु-वनस्पति आदि सभी पृथ्वी पर रहते हैं ऐसे संस्कृत वर्णमाला के सब व्यंजन स्वभावत: अकार के सहारे बोले जाते हैं। अत: अकार और पृथ्वी की समानता से अकार में पृथ्वी-दृष्टि उचित है। अन्य भाषाओं में विभिन्न स्वरों का सहारा लेते हैं- जैसे अंग्रेजी में बी, सी आदि में 'ई' का सहारा है तो 'एच' 'जे' आदि में 'ए' का और 'आर' में 'आ' का या उर्दू में बे ते आदि में 'ए' का और ज़ीम् आदि में 'ई' का सहारा है - अर्थात् सहारे में एकरूपता नहीं है किन्तु संस्कृत में क ख आदि ह - पर्यन्त सब व्यंजन 'अ' का ही सहारा लेते हैं। अत एव ककार आदि में अकार को ही उच्चारणार्थ बताया गया है। व्यंजन को स्वर के सहारे के बिना अकेले उच्चारण करना कठिन होता है। उच्चारण के लिये उससे पहले या बाद में स्वर रखने से सुविधा होती है। स्वर पर व्यंजन 'चढ़ा' है ऐसी इस विषय में कल्पना की जाती है। इसलिये सब व्यंजन-अकार पर चढ़े हैं यह मानकर उसमें पृथिवी-दृष्टि सहज हो जाती है क्योंकि पृथ्वी पर भी सब चढ़े हैं, उसी पर रहते हैं।

अकार प्रथम अक्षर है और वेदों में ऋग्वेद को प्रथम गिनते हैं अत: अकार में ऋग्वेद दृष्टि उपपन्न है । सृष्टि-स्थिति-प्रलय का चक्र है अत: इनमें से किसी को भी पहला मानकर गणना की जा सकती है अर्थात् सृष्टि-स्थिति-प्रलय कहें, स्थिति-प्रलय-सृष्टि कहे या प्रलय-सृष्टि-स्थिति कहें - बात एक ही है फिर भी प्राय: शास्त्र में और सामान्य समझ की भी दृष्टि से सृष्टि से ही प्रारंभ किया जाता है। सृष्टि के देवता ब्रह्मा इसलिये प्रथम हैं, उनकी प्रथमाक्षर अकार में दृष्टि करना ठीक ही है। गणों में रहने वाले देवताओं की गणना में भी प्राय: वसुओं को पहले गिनते हैं अत: पहले अक्षर अ - से उन्हें एक किया गया है। यजुर्वेदादि में 'गायत्री-त्रिष्टुष्-जगतीच्छन्दांसि' ऐसा क्रम सुना जाने से छंदों में गायत्री का प्राथम्य स्पष्ट है। यह चौबीस अक्षरों का छंद होता है, इसकी दृष्टि अकार में करनी है। गृहपति अर्थात् अग्निहोत्री गृहस्थ जिस अग्नि को हमेशा कायम रखता है, जिसमें से आग लेकर हवनकुण्ड में आग जलाते हैं तथा पकाने आदि के लिये भी उसी से आग लेते हैं उस विधिवत् ग्रहण की हुई अग्नि को गार्हपत्य अग्नि कहते हैं, इसकी भी दृष्टि अकार में करनी है। अकार का रंग रक्त-पीत या गेरू है। शब्द में हम लोग तो रंग नहीं देख सकते पर शास्त्र में बताया गया है और ऋषिओं द्वारा देखा गया है अत: ऐसा ही इसका चिंतन करना चाहिये। जो लिपि पर ध्यान करते हैं उनके लिये सरल ही है कि तत्तद् रंगों के अक्षरों को देखें। जो ध्वनि पर ध्यान करें वे तत्तत् ध्वनि के समकाल ही तत्तद् रंगों का ध्यान भी करें जैसे अन्य सरूप वस्तुओं का ध्यान करते हैं । यों अकार के ध्यान का वर्णन हुआ।

दूसरा अक्षर उकार है। कण्ठ की अपेक्षा इसका उच्चारण-स्थान ऊँचा है इसलिये इसका सम्बंध अंतरिक्ष से माना गया है, वह भी पृथ्वी से ऊँचा है। जैसे वेदों मे यजुर्वेद दूसरा गिना जाता है ऐसे ओम् के अक्षरों में उकार दूसरा है अत: उ - में यजुर्वेद-दृष्टि बतायी है। इसके देव विष्णु हैं क्योंकि वे स्थिति के अधिष्ठाता होने से सृष्टि-स्थिति-लय के क्रम में दूसरे ठहरते हैं। ग्यारहों रुद्रों का भी उकार से संबंध है क्योंकि गणदेवताओं के क्रम में ये द्वितीय स्थान पर गिने जाते हैं। इसी तरह छन्दों में द्वितीय जो त्रिष्टुप् उसका इस द्वितीयाक्षर उकार से सम्बन्ध संगत है। अग्नियों में उ - का सम्बन्ध दक्षिणाग्नि से है। चमकदार काला रंग विष्णु का प्रसिद्ध है, उ - के देवता विष्णु हैं ही अत: उ - का रंग भी चमकदार काला ही माना जाये यह ठीक है। अपनी स्थिति-शक्ति के साथ ही विष्णु उकार से एक हैं यह स्पष्ट करने के लिये 'विष्णुदैवत्य' ऐसा कह दिया।

तीसरा अक्षर मकार सबसे ऊर्ध्व, अंतिम है, इसके उच्चारण में नासिका भी काम आती है जो मुख से ऊँची है, इसलिये इसका संबंध अंतरिक्ष से भी ऊँचे द्युलोक से है। ऐसे ही वेदों में तीसरे सामवेद का इस तीसरे अक्षर से अभेद है। सृष्टि-स्थिति-लय क्रम में तीसरे अर्थात् लय के अधिष्ठाता होने से रुद्र, अ-उ के बाद तीसरे इस मकार के देव हैं। उकार के उपदेवों में बताये रुद्र तो ग्यारह के समूह में रहने वाले हर, बहुरूप आदि देवता हैं जबकि यहाँ

प्रलयाधिष्ठाता रुद्र को देव बता रहे हैं। बारहों आदित्यों का भी म से इसीलिये संबंध स्पष्ट है कि वसु- आदि क्रम में वे भी तृतीय स्थान पर गिने जाते हैं। म को छंदों में जगती से और अग्नियों में आहवनीय से एक समझना चाहिये। जिसमें आहुतियाँ अर्पित की जाती हैं उसे आहवनीय अग्नि कहते हैं। म - का रंग सफेद है। भगवान् शंकर सफ़ेद बताये ही गये हैं। यहाँ म - का रंग शुभ और अशुभ दोनों कहा क्योंकि लोक में सफ़ेद को दोनों माना जाता है, शांति स्वच्छता आदि के लिये सफ़ेद रंग शुभार्थ में प्रसिद्ध है एवं कफ़न, विधवाओं द्वारा पहना जाने वाला आदि के रंग के रूप में यह अशुभ भी प्रसिद्ध है। म प्रलयरूप है जिसमें शुभ - अशुभ दोनों लीन हुए हैं, जब सृष्टि प्रारंभ होगी तब दोनों पुनः इसमें से प्रकट होंगे। कुछ लोग समझते हैं कि पहले सब शुभ था, बाद में अशुभ हुआ; कुछ आधुनिकों की मान्यता है कि पहले शुभ होता है, धीरे-धीरे अशुभ आता है; किंतु वैदिक शुभ-अशुभ को साथ ही आने वाला मानते हैं, असुर और आदित्य दोनों कश्यप के पुत्र कहे हैं। इसी दृष्टि से शुभ-अशुभ दोनों के द्योतक सफ़ेद रंग को मकार का वर्ण बताया। शक्ति के साथ रुद्र अर्थात् माया-विशिष्ट चेतन से इसके ऐक्य का चिंतन करना चाहिये। म - का शुद्ध चेतन से संबंध नहीं वरन् मायाविशिष्ट से है।

छठे -सातवें वाक्यों में चौथी मात्रा का वर्णन है -

याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक ओंकार: साऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेद: संवर्तकोऽग्नि: मरुतो विराड् एकर्षि: भास्वती स्मृता।।६।। याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा विद्युमती सर्ववर्णा पुरुषदैवत्या।।७।।

यह अंतिम मात्रा अवसान में है अर्थात् जब ओंकार का उच्चारण समाप्त हो गया, उसके बाद उसकी जो गूंज बचती है जिसे कहीं नाद, नादान्त आदि शब्दों से कहते हैं, वह यहाँ बची हुई मात्रा कही जा रही है। जाग्रत् की उपाधि के चैतन्य से, स्वप्न की उपाधि के चैतन्य से और सुषुप्ति की उपाधि के चैतन्य से जब जाग्रद् आदि उपाधियाँ हट जाती हैं तब केवल चैतन्य बच जाता है, ऐसे ही ओम् की ध्वनि हट जाने पर यह नाद बचता है इसलिये इस चौथी मात्रा से वह चैतन्यमात्र द्योतित है। इस चौथी को ही अर्धमात्रा भी कहा गया है। क्योंकि उच्चारण समाप्त होने के बाद की यह मात्रा है इसलिये इसमें आगे की कोई बंदिश न होने से इसे आधी मात्रा कहा है। प्राणायाम के साथ ओंकार के ध्यान के प्रयोग में इसी गूँज की लम्बाई बढ़ाते जाते हैं, इस दृष्टि से यह प्लुत भी कही गयी है। इसका सोमलोक से अभेद चिंतनीय है। उमा, पार्वती सहित भगवान् शंकर जहाँ रहते हैं उसे सोमलोक कहते हैं। तीनों लोकों को पार कर जो अंतिम सत्यलोक है, वही 'अपरब्रह्म' का स्थान है जिसे नादान्त का स्थान कहा जा रहा है। सोम-शब्द को दो तरह समझा जाता है: उमा के साथ - इस अर्थ को सोम-शब्द स्पष्ट ही कहता है 'उमया सह'। 'सोऽहम्' में ह - को हटा दें और

मकार के बाद का अकार भी हटा दें तब भी सोम् बचता है अत: जीव-ईश्वर की एकता भी इससे सूचित होती है। नादान्त इसी अद्वैत चेतन का बोधक होने से इसे सोमलोक से एक कहा। नादान्त के अभिप्राय का लोकन, दर्शन, इस सोमस्थिति में ही संभव है। जीव-ईश्वर की एकता में ही परब्रह्म अपरोक्ष प्रकट होता है, वही सृष्टि का अधिष्ठानरूप है, उसी के साक्षात्कार से सृष्ट्यादि प्रपंच का बाध होता है।

इस चौथी मात्रा का सम्बंध चौथे अथर्ववेद से है। ओंकार इसका छंद है। अर्धमात्रा अक्षररूप नहीं है अत: अक्षरधर्म जो छंद उसका इससे सम्बन्ध समझना कठिन है परंतु शाब्दिक दृष्टि से जिससे कुछ ढँका रहता है अर्थात् ढाँकने वाले को छन्द कहते हैं। ओंकार से नादांत ढँका है क्योंकि अ - उ - म् के बाद की ही गूँज नादान्त है, चाहे - कोई गूँज तो नहीं। अ - उ - म् का ढक्कन हटने पर ही यह गूँज प्रकट होती है अत: इसका छन्द ओंकार को समझना संगत है। इसका संवर्तकाग्नि से ऐक्य है। प्रलय काल में सबको लीन करने वाली अग्नि का नाम संवर्तक है। जो यह गूँज होती है इसके अंदर अकार - उकार - मकाररूप जाग्रत् - स्वप्न - सुषुप्ति उपाधियाँ समाप्त हो जाती हैं मानो यही उन्हें अपने में लीन कर लेती हो, ग्रस्त कर लेती हो। जैसे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र अ - उ - म् के देव हैं ऐसे इस मात्रा के देव के रूप में संवर्तकाग्नि कही गयी है अत: यह इसका देवता है। गूँज में प्राण की प्रधानता है। जितना अधिक प्राण लेकर प्रारंभ करेंगें उतना ही वह अधिक निकल पायेगा

इसलिये मरुत ही इसके गणदेव हैं। जैसे अकारादि के वसु आदि हैं वेसे नादान्त के मरुत गणदेव या उपदेव है। मरुत संख्या में उनंचास बताये गये हैं।

हवनीय अग्नि की जगह विराड् एकर्षि है जैसे अकारादि की गार्हपत्यादि अग्नियाँ बतार्यी । विराट् अर्थात् विश्व का समष्टिरूप ही एकर्षि है अर्थात् यह एक ही ऐसा है जहाँ सब चीज़ों का ज्ञान होता है। स्वप्न में स्वप्न का तो ज्ञान होता है पर जाग्रत् का नहीं जबकि जाग्रत् में जाग्रत् का ही नहीं स्वप्न का भी ज्ञान होता है। स्वप्न में यह कभी नहीं लगता कि 'मैं अब सपना देख रहा हूँ और जाग्रत् में ऐसा-ऐसा था' पर जाग्रत् में ऐसी प्रतीति होती है कि 'स्वप्न में ऐसा-ऐसा था'। इसी प्रकार सुषुप्ति में जाग्रत्-स्वप्न की प्रतीति नहीं होती जबकि जाग्रत् में 'मैं वहाँ बड़े आनंद से था' यों सुषुप्ति की भी प्रतीति होती ही है। इसलिये जाग्रत्, विराट् ही वह अग्नि है जिसमें सभी ज्ञान हो सकते हैं, अतएव इसे एकर्षि अग्नि कहा।

इस नादान्त का रंग बताया भास्वत् विद्युमत् सर्ववर्ण; इसमें ज्ञान ही पूर्णरूप से है, यह ज्ञानरूप ही है अत: इस मात्रा को भास्वती कहा। अवस्थात्रय में रहने वाले आत्मा का स्वरूप ज्ञान ही है। जाग्रदादि तीनों अवस्थाएँ जानी ही जाती हैं। जब अवस्थाओं का लोप होता है तब शुद्धचेतन को बिजली की तरह वह ज्ञानमात्र कौंध जाता है, उसके लिये वह

मानो चमक जाता है। इसी से इसे विद्युमती भी कहा। इसमें सभी वर्ण, रंग हैं, सभी इसमें लीन हो जाते हैं। इसमें पुरुषशक्ति मौजूद है। पुरु अर्थात् शरीर में शयन करने वाला पुरुष है, हृदय में इसकी प्राप्ति होती है यह सामवेद की दहरविद्या में भी प्रकट है। उसी को इस नादान्त की शक्ति कहा है, वह इसके द्वारा प्रकट होती है और इसी में पायी जाती है।

पूर्ववर्णित विशेषणों से विशिष्ट प्रणव के बारे में ही कहते हैं -

स एष ह्योंकारः चतुरक्षरः चतुश्चतुष्पादः चतुः शिरः चतुश्चतुर्धा मात्रा स्थूलमेतद्ध्रस्वदीर्घप्लुतम् ।।८।।

जिस ओंकार का वर्णन कर आये हैं वह अकारादि भेद से चार अक्षरों वाला है अर्थात् अ - उ - म् और अर्धमात्रा इसके चार अक्षर हैं। यह चार पादों वाला भी है, विश्व-विराट्, तैजस-हिरण्यगर्भ, प्राज्ञ-ईश्वर और तुरीय इसके पाद हैं। चारों अग्नियाँ इसके चार सिर हैं। इस प्रकार इसकी चार मात्राएँ हैं। यों बताया गया ओंकार स्थूल है, इसके ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत भेद हैं। जाग्रत् से सम्बद्ध हुए ओंकार को स्थूल, स्वप्न से सम्बद्ध को ह्रस्व, सुषुप्ति से सम्बद्ध को दीर्घ और तुरीय से सम्बद्ध को प्लुत कहते हैं। मात्रा - समय, खण्ड को भी कहते हैं। काल की प्रथम मात्रा स्थूल, दूसरी ह्रस्व या सूक्ष्म, तीसरी दीर्घ और चौथी प्लुत है।

प्रणवोच्चारण का ढंग बताते हुए कहते हैं -

ॐ ॐ ॐ इति त्रिरुक्त्वा चतुर्थः शान्त आत्मा प्लुतप्रणव-प्रयोगेण समस्तमोमिति प्रयुक्तमात्मज्योतिः सकृदावर्तते ।।९।।

ओंकार का स्वरूप समझकर पहले ओंकार का उच्चारण करते हुए अकार और उसके अर्थ की तरफ ध्यान केन्द्रित करें, द्वितीय ओंकार का उच्चारण करते हुए उकार और उसके अर्थ का ध्यान करें तथा तृतीय ओंकार का उच्चारण करते हुए मकार और उसके अर्थ का ध्यान करें। इस प्रकार तीन मात्राओं का ध्यान कर जो चौथी मात्रा, लंबा चलने वाला नाद है उसे शांत आत्मा समझकर यह ध्यान करे कि जैसे तुरीय शांति में संपन्न हो जाता है ऐसे ही सारा नाम-रूपात्मक जगत् अंत में एकमात्र ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। इस प्रकार प्लुत प्रणव का प्रयोग करने पर उसकी समाप्ति में नादरूप ज्योति अर्थात् नाद के ज्ञान का अनुसन्धान करने से आत्मज्योति निरावृत हो जाती है और अभ्यास दृढ हो जाने पर वह हमेशा प्रकाशित होती रहती है। क्योंकि वास्तव में आत्मा में ध्वनि नहीं इसलिये वह सदा शान्त है। इसकी प्राप्ति का साधन प्रणवनाद है यह स्पष्ट होता है।

ॐ के और नाम समझाते हैं -

सकृदुच्चारितमात्रेण ऊर्ध्वमुन्नामयतीत्योंकार:। प्राणान् सर्वान् प्रलीयत इति प्रलय:। प्राणान् सर्वान् परमात्मनि प्रणामयतीत्येतस्मात् प्रणव:। चतुर्धाऽवस्थित इति सर्वदेववेदयोनि: सर्ववाच्यवस्तु प्रणवात्मकम्।।१०।।

एक बार प्लुत उच्चारण करते हुए मूलाधार से ब्रह्मरंध्र पर्यन्त प्राण के साथ प्रणव को ऊपर की ओर ले जाने से यह मायोपाधिक ब्रह्म की प्राप्ति करा देता है। सारे प्राणों को अपने में प्रलीन कर लेने से ओंकार ही प्रलय भी है। सब प्राणों को परमात्मा में भली-भाँति एक कर देने से यह प्रणव है। सारे प्राण, इन्द्रियाँ परमात्मा से पृथक् कुछ नहीं, उससे सर्वथा एक हैं, यह ॐ के विचारपूर्ण ध्यान से स्पष्ट हो जाता है। जैसे संगीत में तल्लीन व्यक्ति के लिये संगीत से अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता वैसे ईश्वर से अतिरिक्त और कुछ न रहे इस स्थिति की प्राप्ति प्रणव करा देता है। ओंकार, प्रलय और प्रणव - इन तीनों कलनाओं से, कल्पनाओं से जब रहित हो जाता है तब वह चौथा शांत बचता है। ॐ का स्थूलांश ओंकार, सूक्ष्मांश प्रलय और कारणांश प्रणव है तथा चौथा है शांतरूप। यों चार तरह से यह अवस्थित है। चार तरह से अवस्थित होने पर भी वास्तव में ॐ एक ही हैं; स्वरूप से एक है, कल्पना से चार तरह का है। ॐ के वाच्य सारे देवता हैं, इससे सभी देवता कह दिये जाते हैं अत: पूजा पद्धति में यदि किसी देवता का मंत्र न पता हो तो **'ॐ नम:'** कहकर उसकी पूजा की जा सकती है। शब्दरूप से ओंकार ही वेद का कारण है। जितनी भी चीज़ें शब्द से कही जा सकती हैं वे सब प्रणवरूप ही हैं। प्रणव और ब्रह्म से अतिरिक्त न कोई अभिधेयजात

अर्थात् नामी है, वाच्य है, रूपप्रपंच है और न कोई अभिधानजात है अर्थात् नामं, वाचक, शब्दप्रपंच है। यही इस प्रथम खण्ड में प्रतिपादित है।

गुंफा मठ

ॐ का महत्व

ॐकार सारे देवताओं और सारे वेदों का प्रतिपादक है । 'सर्ववाच्य वस्तु प्रणवातमकम्' जो कुछ भी वाच्य है सारी वाच्य वस्तु ओंकार रूप है। ब्रह्मरूप प्रणव से अतिरिक्त न अभिधान है, न अभिधेय है। वाच्य का मतलब होता है जो वाणी से कहा जा सकता है, वाणी के द्वारा जो प्रतिपाद्य है। अर्थात् नाम रूपात्मक सृष्टि। सारी सृष्टि ओंकार रूप ही है। शब्द और अर्थ का आपस में क्या संबंध है? इसके बारे में अनेक दर्शनों ने अनेक प्रकार से विचार किए हैं। घट का नाम सुनते ही हमें घट का ज्ञान होता है। शब्द के उच्चारण के साथ ही शब्द के अर्थ का भान होता है, प्रतीति होती है। यह शब्द की एक विचित्र शक्ति है। ऐसी विचित्र शक्ति है कि अत्यंत असत्य अर्थ का भी भान करा देता है। अत्यंत असत्य अर्थ का भान मायने क्या? मेरे कोई बहन पैदा ही नहीं हुई, मैं अपने बाप का अकेला लड़का हूँ। जब मेरी कोई बहन पैदा नहीं हुई तो बहनोई कहाँ से आएगा ! बहन होगी तभी बहनोई होगा। कोई व्यक्ति मुझसे कहता है अबे साले तो अत्यंत असत्य वस्तु है। मेरा कोई बहनोई नहीं तो मैं किसी का साला नहीं। फिर भी गुस्सा आ जाता है। किस बात पर गुस्सा आता है? यह मेरा बहनोई कैसे बन गया? अरे बन ही नहीं सकता, जैसे बाँझ का बेटा नहीं हो सकता वैसे मैं साला नहीं हो सकता। परंतु असत्य अर्थ का भी शब्द

से भान हो जाता है। मुझे साला कहा तो गुस्सा आ जाता है लड़ाई झगड़ा हो जाता है। अत्यंत असत्य अर्थ का भी भान शब्द करा देता है।

शब्द की एक अद्‌भुत सामर्थ्य इसीलिए मानी गई है जिससे वह अर्थों का ज्ञान करा देता है। प्राचीनकाल से इसीलिए हम लोग शब्द के विषय में बड़ा विचार करते रहे हैं । मनुष्य के बंधन और मोक्ष, सुख और दु:ख का सर्वाधिक कारण शब्द ही है। हमको जितनी चीज़ें याद रहती हैं वे अधिकतर शब्द के रूप में ही याद रहती हैं। अगर किसी चीज़ की सुगन्धि को हम यथावत् याद करना चाहें तो प्रतीति नहीं होती, अगर किसी चीज़ का स्पर्श ठीक-ठीक याद करना चाहें तो याद नहीं आता। दो ही चीज़ें हमें स्पष्ट याद आती हैं - या तो रूप या नाम। किसी का चेहरा स्पष्ट याद आ जाता है अथवा उसका नाम स्पष्ट याद आ जाता है। स्पर्श, गंध आदि बाकी चीज़ें स्पष्ट भान नहीं होतीं। अत: उपनिषदों ने जहाँ कहीं संसार का वर्णन किया है, वहाँ नाम रूपात्मक सृष्टि कही है यद्यपि यह ठीक है कि रूप शब्द का अर्थ व्यापक है रूप्यते अनेन इस व्युत्पत्ति से गंध आदि भी रूप हैं क्योंकि पदार्थों का निरूपण करते हैं तथापि मनुष्य के अंदर यह शक्ति प्राय: कार्यकारी नहीं होती कि गंधादि से किसी का सही निरूपण कर या समझ सके। आरक्षी विभाग, पुलिस डिपार्टमैंट में कुत्ते रखे जाते हैं जो सुगन्धि से चोर को पकड लेते हैं परंतु मनुष्यों में यह शक्ति प्राय नहीं हैं; कदाचित् किसी में हो तो बात दूसरी है, परंतु चेहरा देख लेते हैं तो सभी पहचान लेते हैं। इसीलिए यदि बत्ती

जल जाए तो चोर को पहचाने जाने का डर होता है जान से भी मार देता है। परंतु किसी चोर को यह डर नहीं लगता कि मेरी गंध पहचान लेंगे। हमारे परिचित एक सज्जन हमसे कहने लगे स्वामी जी एक अलाती, टार्च अपने पास रखा कीजिए, रात बिरात कोई आए तो दिख जाए। हमने कहा तुम बीमा बेचे हो हम बीमा बेचे हुए तो हैं नहीं। अगर चोर को पता लग गया कि हमने उसे पहचान लिया है तो वह मार कर जाएगा और अँधेरे में सिर्फ चोरी कर के चला जाएगा, उसको पहचाने जाने का डर नहीं लगेगा तो वह मार-पीट भी नहीं करेगा । गंध, स्पर्श आदि का भय चोर को नहीं होता है रूप का ही डर होता है कि कहीं पहचाना न जाऊँ। इसलिए रूप में गन्ध आदि का समावेश होने पर भी मनुष्य की दृष्टि से प्रधानता को मानकर रूप-शब्द का ही प्रयोग करते हैं। नाम और रूप को विशेषता इसीलिए दी गई ।

सृष्टि नाम रूपात्मक है। शब्द में कौन सी शक्ति है कि किसी भी पदार्थ को उपस्थापित कर देती है? वेदांत शास्त्र में शब्द की शक्ति अचिन्त्य मानी है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि एक आदमी नींद में सो रहा है। वहाँ तुम ढोल भी बजाते हो तो वह उठता नहीं। परंतु तुम कहते हो देवदत्त ! तो वह झट उठ जाता है। उससे कहते हैं अरे ढोल बजा था, सुना था? कहता है जी पता नहीं, इसका मतलब है कि साधारण ध्वनि को, साधारण आवाज़ को वह नहीं सुन रहा था। श्रुति भी कहती है कि जब आदमी गहरी नींद में सोता है, तब मन के अन्दर की वासनाओं को नहीं जानता है; गहरी नींद में मन नहीं है इसलिए मन की वासनाओं का ज्ञान भी नहीं है। सुषुप्ति में बाह्य इन्द्रियाँ भी नहीं हैं इसलिए

बाहर की चीज़ों को भी नहीं जानता है। दोनों के मिले हुए रूप को तो कहाँ से जानेगा? जब बाहर की चीज़ को जान नहीं रहा था गहरी नींद में, तब उसने आवाज़ सुन कैसे ली? हमने जो देवदत्त कहा वह आवाज़ सुनी तभी उठा, उठ कर कहता भी है जी क्या बात है? अपना नाम सुना था तभी उठ कर पूछता है। कान ढोल की आवाज़ नहीं सुन रहा है और देवदत्त शब्द को सुन रहा है; इसका मतलब है कि सामान्य ध्वनि को न सुनने पर भी, बाहर के पदार्थों को न ग्रहण करने पर भी, शब्द को ग्रहण कर सकता है, शब्द के अन्दर कोई ऐसी शक्ति है जो गहरी निद्रा में भी जगा देती है। इसलिए कहा कि शब्द की शक्ति अचिन्त्य है। हम सोच भी नहीं सकते इसकी कैसी शक्ति है? पता कैसे लगता है? तो सोई हुई अवस्था से उठ जाते हैं इससे पता लगता है। जैसे साधारण आदमी गहरी नींद में सोता है वैसे परब्रह्म परमात्मा अज्ञान निद्रा में सो रहा है अज्ञाननिद्रा में सोया हुआ परमात्मा ही जीव है। अज्ञान-निद्रा में पड़े हुए जीव को महावाक्य सुनाया जाये तो वह उसका अर्थ समझे कैसे? जैसे प्रश्न है कि गहरी नींद वाला अपने नाम को कैसे सुनता है? इसी प्रकार समस्या है कि महावाक्य को जीव कैसे समझ सकता है? कोई तरीका समझ में नहीं आता। जैसे गहरी नींद में आवाज़ नहीं सुन सकता वैसे ही अज्ञान निद्रा में पड़ा जीव शुद्ध ब्रह्म के प्रतिपादक महावाक्य को समझ नहीं सकता है। किंतु जैसे नाम पुकारने पर सोया व्यक्ति जग जाता है वैसे ही महावाक्य को सुन कर जीव परब्रह्म परमात्म रूप से जग जाता है, इसीलिए मानना

पड़ता है कि उस शब्द के अंदर अनिर्वचनीय शक्ति है। इसीलिए अपने शास्त्रों में परमात्म-प्राप्ति के साधनों में शब्द की इतनी महत्ता है।

शब्दों के उच्चारण पर हम लोग इसीलिए इतना ध्यान देते हैं। वर्तमान काल में पाश्चात्य सरंकृति से प्रभावित जो शिक्षा है उस के अंदर न उच्चारण पर ध्यान है न लेखन पर ध्यान है। बच्चे लिखते हैं तो ऐसा लगता है जैसे चीटियाँ चल रही होवें ! जहाँ लोग दस हजार रूपये देकर भर्ती होते हैं ऐसे अच्छे माने जाने वाले विद्यालयों में पढ़े बच्चों के हाथ का लेख देखो तो समझ में नहीं आता। अभी कुछ दिन पहले एक सज्जन ने श्लोक लिखा, हमसे कहने लगे देखिये ठीक है क्या? हमने कहा तुम ही बाँच दो, तुम ही पढ़ दो। वह अपना लिखा बाँचने में भी बीच-बीच में रुक रहा था ! हमने कहा भले आदमी ! जब तुम्हारा लिखा तुम ही नहीं बाँच सकते तो दूसरा कैसे बाँचेगा? यह हालत तो लेख की है, उच्चारण पर भी कोई ध्यान नहीं है। कुछ भी किसी भी समय उच्चरित होता रहता है।

यजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा के संहिता और ब्राह्मण भागों के बाद आरण्यक का भी जहाँ समापन होने जा रहा है वहाँ परमात्म-विद्या के प्रसंग से ठीक पूर्व अकस्मात् श्रुति उच्चारण की बात समझाने लगती है ! भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर प्रश्न उठाते हैं कि ब्रह्मविद्या के प्रसंग में जहाँ अर्थ की प्रधानता है वहाँ उच्चारण का विचार क्यों कर रहे हैं? भाष्यकार उत्तर देते हैं

कि अर्थ-प्रधान ब्रह्मविद्या के अन्दर उच्चारण के प्रति प्रमाद न हो इसीलिए यहाँ श्रुति ने यह प्रसंग रख दिया। यह वाक्य याद रखने का है क्योंकि आजकल किसी को शब्द ठीक से उच्चरित करने को कहें तो आदमी कहता है समझ तो आप गए ही हैं ! अर्थात् उच्चारण को सर्वथा गौण मानने लगे हैं। इसीलिए वहाँ भी श्रुति ने इसका विचार किया, क्योंकि यदि शब्द का उच्चारण ग़लत हुआ तो उसके स्पंद ग़लत हो जाएँगे। उसका ठीक प्रभाव नहीं पड़ पाएगा। शब्द-शक्ति अचिन्त्य है। इसीलिए केवल समझ गए - इतने मात्र से शब्द शक्ति की अवहेलना नहीं करनी चाहिए।

जब कहते हैं कि ओंकार सबका वाचक है, तब सब कौन हैं? सब का अर्थ श्रुति ने किया है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सर्व मायने ब्रह्म, क्योंकि एक ब्रह्म ही सारे रूपों में अज्ञान के द्वारा प्रतीत हो रहा है। ब्रह्म को बतलाने वाला यह **ॐ** है, साक्षात् ब्रह्म का वाचक है। महर्षि पतंजलि भी इसीलिए कहते हैं तस्य वाचः प्रणवः परमात्मा का वाचक है तो प्रणव है। प्रणव मायने ओंकार।

द्वितीय खंड का प्रारंभ करते हुए श्रुति कहती है :

देवाश्चेति सन्धत्ताम। सर्वेभ्यो दुःखभयेभ्यः संतारयति इति तारणात् तारः

परब्रह्म का प्रतिपादन करता है, इसलिए ओंकार संसार से तारने वाला होने से तार कहा जाता है। काशी में भगवान् शंकर ने मोक्ष का सदाव्रत क्षेत्र खोल रखा है। सदाव्रत क्षेत्र अर्थात् जहाँ जो आए उसको भोजन दिया जाए, जैसे हृषिकेश चले जाओ तो काली कम्बली वालों का सदा व्रत क्षेत्र है, जो वहाँ जाएगा उसे भोजन मिल जाएगा। वहाँ यह नही देखा जाता कि तुम कितने पढ़े हो, या नही पढ़े हो, सच बोलने वाले हो या झूठ बोलने वाले हो, कुछ परीक्षा नहीं की जाती है। वहाँ भिक्षा-पात्र लेकर चाहे बड़े से बड़ा विद्वान पहुँच जाए, ब्रह्मनिष्ठ पहुँच जाए तो पाँच फुलके देने हैं, और चाहे बेपढ़ा, मूर्ख, चोर पहुँच जाए तो भी उन्हें पाँच फुलके ही देने हैं; यह सदाव्रत क्षेत्र है। ठीक इसी प्रकार भगवान् शंकर ने काशी में मोक्ष का सदाव्रत क्षेत्र खोल रखा है, चाहे कोई ब्रह्म हत्यारा पहुँच जाए, और चाहे कोई बड़े से बड़ा वेदवेत्ता ब्रह्मनिष्ठ पहुँच जाए, दोनों को एक जैसी मुक्ति दे देते हैं।

आजकल के लोगों को यह बात गले नहीं उतरती, क्योंकि सदाव्रत क्षेत्र आजकल के लोगों के गले उतरता नहीं। लोग कहते हैं कि बिना काम किए कोई रोटी क्यों खावे? एक बार हमसे कोई कहने लगा, 'महाराज बिना परिश्रम किए खाना तो बुरी बात है'। हमने कहा कि 'भाई, बन्दरों को लगाओ किसी नौकरी में, चींटियों को पकड़ कर लगाओ कुछ काम धन्धा करने में। अरे ! संसार में खरबों प्राणी हैं जिनको गिन नहीं सकते, चींटी है दीमक है, बड़े से बड़ा हाथी है, सभी भरपेट खाते हैं, क्या एक मनुष्य को ही इतना गया-बीता समझ

ाते हो कि इसे खाने का अधिकार नहीं ! जिसको परमेश्वर ने पैदा किया है उसके लिए भोजन परमेश्वर ने साथ में पैदा किया है '। पाश्चात्य देशों से यह विचार धारा आई है कि मेहनत करे तभी खावे ।

बगांल में एक ब्राह्म समाज हुआ है। अब उसका प्रभाव कम हो गया है। वह ईसायियत से ज़्यादा प्रभावित है। ईसाई लोग जब भोजन करने बैठते हैं तब प्रार्थना करते हैं भगवान् ! आपका बहुत-बहुत धन्यवाद है जो हमें खाने के लिए रोटी मिली। उससे प्रभावित होकर ब्राह्म समाज वाले भी ऐसे ही प्रार्थना करते हैं। उस समय ब्राह्म समाज के नेता थे केशवचन्द्र वे रामकृष्ण परमहंस से कहने लगे एक बार चल कर हमारे यहाँ की प्रार्थना देखिए। रामकृष्ण परमहंस वहाँ चले गए। जब प्रार्थना आदि का कार्यक्रम पूरा हो गया तब ईसाईयों के ढंग से समापन की सूचना देने के लिए घण्टी बज गई और सबने ध्यान ख़त्मकर आँख खोल लीं। बाद में केशव चन्द्र ने पूछा 'आपको कैसा लगा'? उन्होंने कहा 'तुम्हारी दो बाते समझ में नहीं आईं: एक तो तुमने कहा सब लोग ध्यान करो भगवान् का'; मैं सब की ओर देख रहा था, जानते हो सब कैसे दिख रहे थे? जैसे बन्दर पेड़ की डाल पर बैठा हुआ सामने के फल पर कूदने की कोशिश में हो, चुप बैठा है कि जैसे ही संतुलन बने वैसे ही खट कूदकर फल तोड़ ले ! इसी तरह वहाँ जितने लोग ध्यान में बैठे थे सब इसी इंतज़ार में थे कि जैसे ही ध्यान ख़त्म हो वे खट आँख खोलें। कोई मर जाता था तो गीता-

पाठ कर लेते थे, गरुड़ पुराण रखवाते थे; अब कहते हैं सब जने दो मिनट शान्ति-पूर्वक प्रार्थना करो। कभी ध्यान देकर देखो तो धीरे-धीरे बीच में लोग अपने हाथ की घड़ी देखते हैं कि दो मिनट हुए कि नहीं। मौन कोई इतना सरल काम नहीं है। दिन-भर दुनिया-भर के व्यवहारों को मन में भर कर ध्यान हो जाएगा, यह आशा करते कैसे हो? ठीक जैसे रामकृष्ण परमहंस ने देखा कि उछलने को तैयार बैठे हैं, उसी तरह नये विषय-चिन्तन की इन्तज़ार को ध्यान समझ लेते हैं। दूसरी बात उन्होंने कही तुम अपनी प्रार्थना में कहते हो भगवान् आप हमें कपड़ा, भोजन देते हो आपका बड़ा धन्यवाद है। तुमने अपने बेटों को पैदा किया तो उन बेटों को खिलाने के लिए क्या पड़ौसी देगा? क्या भगवान् ने हमें पैदा किया है तो भगवान् हमें कपड़ा भोजन नही देगा? इसके लिए धन्यवाद-धन्यवाद क्या कर रहे हो ! पैदा किया है तो खाने को वह नहीं देगा तो क्या कोई दूसरा देगा? यह विचार धारा कि भगवान् को धन्यवाद देवें, पाश्चात्य संस्कृति से आयी है। हमारी दृष्टि है प्रारब्ध की, कि हमको भगवान् ने पैदा किया है तो हमारी व्यवस्था भी वही कर रहा है। जब लौकिक व्यवहार में ही सदाव्रत क्षेत्र हमारे गले नहीं उतरता तो मोक्ष का सदाव्रत गले कैसे उतरेगा? इसलिए बार-बार प्रश्न उठता है कि काशी में मरने वाला एक ब्रह्महत्यारा उसकी भी मुक्ति, दूसरा बड़ा भारी ब्रह्मनिष्ठ उसकी भी मुक्ति, दोनों को एक जैसा मोक्ष कैसे?

भगवान् शंकर काशी में मरने पर मुक्ति किस प्रकार से देते हैं? ओंकार के उपदेश से ही। प्राणी को वह अपनी गोद में ले कर उसे **ॐ** का श्रवण करवाते हैं, **ॐ** सुनाते हैं, उसके द्वारा ही उसकी मुक्ति होती है। भगवान् ने गीता में इसीलिए सभी प्राणियों को यही कहा कि जब जीवन का अन्त आवे तो **ॐ** का उच्चारण करते हुए ही शरीर को छोड़ें। **ॐ** संसार बन्धन से तारता है इसीलिए **ॐ** को तारक कहते हैं, तारने वाला कहते हैं। सारे दु:खों और भयों से वह हमें पार उतार देता है। दु:ख और भय शरीर के संबंध से ही हैं। जब तक हम शरीर के साथ संबंध वाले हैं तब तक दु:ख और भय है। अपने सारे दु:खों को सोच लो, शरीर-संबंध के बिना कोई दु:ख नहीं होता। इसी प्रकार डर भी कब लगता है? शरीर-संबंध से ही भय लगता है। इसीलिए वेद स्पष्ट कहता है कि देह-संबंध से ही यह सब है। आत्तो वै सशरीर: प्रियाप्रियाभ्याम्। न वै सशरीरस्य सत: प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत:। जब तक आत्मा शरीर में है, इससे तादात्म्य वाला है, तब तक प्रिय और अप्रिय, सुख और दु:ख से ग्रस्त है, इनसे छूट नहीं सकता। जब यह शरीर से सर्वथा असम्बद्ध हो जाता है तब इसे प्रिय-अप्रिय छू भी नहीं सकते ! ओंकार क्या करता है? दु:खभयेभ्य: संतारयति इति तारणात् तार: दु:ख और भय से बचा देता है। दु:ख और भय से बचने का तरीका यही है कि शरीर की प्राप्ति न होवे, शरीर से संबंध न होवे।

यह कार्य ओंकार किस प्रकार करता है? देवाश्चेति सन्धत्ताम् देवता वे जिनका प्रतिपादन किया और चकार से प्रतिपादन करने वाले वेद के मन्त्रों का संग्रह है। इन दोनों का सन्धान है: सारे देवता परब्रह्म-परमात्म-रूप हैं, सारे वेद देवताओं का प्रतिपादन करते हैं, इसलिए वेद परमात्मा का प्रतिपादन करते हैं। भगवान् ने इसीलिए गीता में कहा है वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य: सारे वेदों के अन्दर एक मात्र मैं ही प्रतिपादित किया गया हूँ। ऐसे समझ लो जैसे बड़ा लम्बा चौड़ा बजट होता है, उसमें अलग-अलग विभागों का ब्योरा होता है, लेकिन सारे बजट में प्रतिपाद्य क्या है? पैसा कहाँ से आना है पैसा कहाँ को जाना है; सारे बजट का प्रतिपाद्य तो धन की आय, और धन का व्यय है बाकी सब अलग-अलग नाम हैं। बड़ा झगड़ा चलता है कि प्रत्यक्ष कर (डायरेक्ट टैक्स) बढ़ाया जाए या अप्रत्यक्ष कर (इनडायरैक्ट टैक्स) बढ़ाया जाए। अरे भाई ! घूम फिर कर पड़ना तो तुम्हारे सिर है, चाहे बाएँ तरफ से हाथ बढ़ा कर तुम्हारी पीछे की जेब से निकाला जाए चाहे ऊपर की जेब से निकाला जाए, निकलना तो तुम्हारे से ही है, क्या फर्क पड़ना है। परन्तु लोगो को अलग-अलग नाम होने से बिक्री कर, आयकर आदि नाम अलग रख देते हैं तो लोग राजी रहते हैं। तुम लोग हल्ला मचाते हो कि बिक्री कर (सेल्ज टैक्स) हट जाना चाहिए; अरे ! पैसा तो खर्च होना ही है, वह पैसा तुम्हीं से आना है, चाहे जैसे आवे। फिर भी लोगों को रुचि होती है कि इस तरह से कर लेवें तो ठीक, इस तरह से न लेवें तो ठीक। इसी प्रकार वेदों के द्वारा प्रतिपाद्य तो एक परमात्मा है। आचार्य सायण लिखते हैं वेद-भाष्य की भूमिका में कि सारे वेद मन्त्रों के

द्वारा एक मात्र परमेश्वर की ही प्रार्थना की जाती है, परमेश्वर का ही स्मरण किया जाता है, उनको ही बुलाया जाता है। परन्तु लोगों की भिन्न-भिन्न रुचियाँ हैं, इसीलिए अनेक प्रकार के देवताओं का वर्णन किया जाता है, प्रतिपाद्य तो एक परमेश्वर ही है। अत: यहाँ पर कहा कि सारे देवता एक मात्र परमात्मा का ही स्वरूप हैं और सारे वेद एकमात्र परमात्मा का ही प्रतिपादन करने वाले हैं। ओंकार चूँकि उन सब देवताओं का प्रतिपादक है इसलिए सारे दु:ख और भयों से तार देता है। सारे दु:ख का मतलब इह लोक और परलोक के सब दु:ख समझ लेना।

एक महात्मा के पास कोई गया, उनसे पूछा 'अमुक जगह कहाँ है?' 'उन्होंने कहा पार में है'। वह बेचारा भोला-भाला आदमी था, नाव में बैठ गया। नाव वाले ने पूछा 'किधर जाना है?' वह बोला पार जाना है' नाविक नाव को दूसरे किनारे ले गया। दूसरे किनारे पहुँच कर नाव वाले ने कहा 'उतरो', उसने कहा 'पार आ गया?' नाव बड़ी थी सैकड़ों आदमी चढ़े हुए थे, नाविक ने पहचाना नहीं कि वही आदमी है, सोचा कि इधर से ही चढ़ा होगा अत: उसने कहा 'अच्छा, पार तो अभी जाएँगें' दूसरी तरफ अर्थात् पहले वाले किनारे पर फिर आ गए, सब उतर गए, वह बैठा रहा, नाविक ने कहा 'कहाँ जाना है?' 'वह बोला पार जाना है' नाविक ने कहा 'अच्छा'। बहुत से आदमी थे पहचानने में आया नहीं

तो बेचारा घण्टों इधर से उधर चलता रहा सोचता रहा न जाने पार कब आएगा ! इधर से चलो तो उधर पार है उधर चल कर कहोगे तो इधर पार हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य पैदा होता है तो सोचता है स्वर्गादि लोक में, वैकुण्ठ-लोक में पहुँच जाऊँगा तो पार हो जाऊँगा। वहाँ जाता है तो वहाँ वाले कहते हैं 'अरे मनुष्य-लोक में जाओ, वहाँ ज्ञान और मोक्ष हो जाता है'। शास्त्रकार कहते हैं कि जीव देवता बनता है तो सोचता है कि मनुष्य बन जाऊँ 'गायन्ति देवा किलगीतकानि धन्यास्तुते भारतभूमिभागे' पुराण बताता है कि देवता लोग कहते हैं कि जो भारतवर्ष में जन्म लेते हैं वे धन्य हैं । ठीक जैसे यहाँ से अगर तुम अमेरिका चले जाओ तो वहाँ तुम कमाई नहीं कर सकते । कमाई करोगे तो वे तुम्हें जेल में बंद कर देंगे । तुम वहाँ घूमने गए हो, मौज शौक खूब करो। परंतु केवल खर्च कर सकते हो, कमाई नहीं कर सकते । कमाई करने के लिए तुमको फिर यहीं आना पड़ेगा । अब तो पता नहीं परंतु कुछ साल पहले सरकार का नियम था कि कम से कम तीन साल के पहले वहाँ जाने की अनुमति नहीं देते थे। हमने सोचा, 'सरकार ने यह निर्णय किया है कि तीन साल में रूपया इकट्ठा करे तो ही वहाँ जा कर खर्च कर सकता है। इससे यदि कम समय में किया है तो इसने कहीं न कहीं सेंध मारी है'। तभी इसके पास इतनी जल्दी वहाँ जाकर खर्च करने का पैसा हो गया। ठीक इसी प्रकार से मनुष्य-लोक में कमाई कर सकते हो, देव लोक में जा कर खर्च करो, खर्च करके वापस कमाई करने यहीं आना पड़ेगा। देव लोक में पहुँच कर

पूछते हो कि पार कहाँ है? तो देवता कहते हैं 'मनुष्य लोक में जाओ कमाई करने के लिए'। मनुष्य लोक में आकर पार के बारे में पूछते हो तो कहते हैं 'देव लोक में जाओ भोग भोगने के लिए'। जीव कभी देवलोक, कभी मनुष्य-लोक, फिर देवलोक, बस यों घुमता रहता है परन्तु *पार* कभी आता नहीं। यहाँ दु:ख इस बात का है कि भोग नहीं भोग सकते, मनुष्य शरीर में कोई ज़्यादा भोग भोगने की सामर्थ्य नहीं है। सेर-भर दाल का सीरा खा लो बस, फिर और खाना भी चाहो तो खा नहीं सकते। यहाँ पहले तो भोग ही बहुत कम हैं जितने भोग हैं उनको भी भोगने की जीव में सामर्थ्य बिल्कुल कम है, अत: यहाँ आता है तो उसको दु:ख इस बात का है कि 'मैं भोग नहीं सकता'। और यहाँ आने पर भय भी है। उम्र बहुत छोटी-सी है, सौ साल की उम्र है। सौ साल की उम्र में कमाई करने की उम्र और कम है। पचीस वर्ष जिसको 'गधा पचीसी कहते हैं' उसमें चले गए, उसके बाद तुमने कमाई करना शरू किया। पचहत्तर साल में बुड्ढे हो गए तो वैसे ही कुछ भोग करने के लायक नहीं रह जाते। पचास साल तो ऐसे ही निकल जाते हैं कहने को सौ साल की उम्र है। पचास साल बचे उनके अन्दर आठ घण्टे तो नींद लोगे ही, एक-तिहाई समय तुम्हारा सोने में निकल गया । खाना-पीना-नहाना-धोना सब में चार घण्टे और निकल जाते हैं बेचारों के ! यों तुम्हारे पास आधा समय बचा यानि पचीस साल बचे। उनमें भी कुछ-न-कुछ समय निकालना पड़ता है यहाँ दाल रोटी के लिए धन्धा करने का, उससे जो समय बचा उसी में तुम पुण्य करके सुख

भोगने के लिए देव-लोक में जाओगे। अत: यहाँ पर हमेशा भय लगता रहता है कि समय ख़त्म हो रहा है, जल्दी ही यहाँ से जाना पड़ेगा, हम बहुत कम पुण्य कर पाए। इस बात का भय है। जब वहाँ पहुँचते हैं तब दु:ख इस बात का है कि रोज़ खर्च ही खर्च हो रहा है। क्योंकि जीव देवलोक में पहुँचकर प्रज्ञावाला होता है, इसलिये उसको हर क्षण पता रहता है कि अब उसका इतना पुण्य बच गया । घर से दूरभाष द्वारा, टेलिफोन द्वारा चाहे जितनी देर बातें करते हो तो घबराहट नहीं होती क्योंकि तत्काल पैसा नहीं देना पड़ता। दूरभाष के उपयोग के लिये खुली दूकान में (एस.टी.डी बूथ में) जाकर बात करो तो हर क्षण सामने लिखा आता रहता है कि कितने पैसे खर्च हो गये अत: वहाँ ज़्यादा देर बात नहीं की जाती, देर तक बात करने का मज़ा किरकिरा हो जाता है। देव लोक में सामने आता रहता है कि 'अब इतना पुण्य खर्च हो गया, अब इतना खर्च हो गया', अत: दु:ख बना रहने से वहाँ भोग का मज़ा भी किरकिरा हो जाता है। इसलिये चाहे मनुष्य-लोक हो या देवादिलोक, सर्वत्र दु:ख और भय हमेशा रहते हैं जिसके फलस्वरूप जीव आनंदपूर्ण नहीं रह पाता। अन्य कोई उपाय नहीं जिससे ये दु:ख व भय सर्वथा मिट सकें, एकमात्र परमात्मज्ञान से ही ये दूर होकर आनंदस्थिति होती है। वह परमात्म-ज्ञान ओंकार से ही संभव है यही इस तार की, प्रणव की, ॐ की महत्ता है।

ॐ की साधनता

सारे दु:खों और भयों को निवृत्त करता है इसलिए **ॐ** को तार या तारक कहते हैं। श्रुति आगे कहती है 'सर्वे देवा: संविशन्ति इति विष्णु:।' ओंकार ही विष्णु है। विष्णु का मतलब क्या ? जिसमें सब चीज़ें संवेश करें, प्रवेश करें, जिसमें सब चीज़ें लीन हो जाएँ उस को विष्णु कहते हैं। कार्य हमेशा कारण में लीन होता है, जैसे गहना ये सोने का कार्य है, गहने को गला देंगे तो अपने कारण सोने में लीन हो जाएगा। कपड़ा मिट्टी से बना है, कपड़ा मिट्टी का कार्य है, कपड़े को जला देंगे तो वापस राख अर्थात् मिट्टी बन जाएगी। जो चीज़ जिससे पैदा हुई है वह उसी में लीन होती है और इसीलिए कार्य के कण-कण में कारण व्यापक हो कर रहता है। गहने के कण-कण में सोना है, कपड़े के कण-कण में मिट्टी है। अत्यन्त स्पष्ट देखना हो तो किसी नदी, तालाब या समुद्र में देखो: पानी से लहर पैदा होती है, वापस लहर लीन किसमें होती है? पानी में ही लीन होती है; और लहर के कण-कण में क्या है? केवल पानी ही है। कार्य कारण में लीन होता है और कारण कार्य के कण-कण में व्यापक होता है। सारे ही देवता जिसमें संवेश कर जाते हैं, प्रवेश कर जाते हैं वह व्यापक ओंकार ही विष्णु है।

दिव धातु से बने हुए देवता शब्द का मतलब होता है जो चेतन होवे, प्रकाश करे। दिव धातु का अर्थ है प्रकाश; देवता अर्थात् प्रकाश। प्रकाश का मतलब भौतिक जगत् में भौतिक प्रकाश और चेतन जगत् में चेतन प्रकाश। भौतिक जगत में सूर्य चन्द्र इत्यादि प्रकाशरूप हैं इसलिए इनको देवता कहा जाता है। इसी प्रकार से नक्षत्र तारे इत्यादि भी प्रकाशरूप होने से देवता कहे जाते हैं। भौतिक प्रकाश भी किसी विशिष्ट शक्ति के द्वारा ही प्रकाश वाला होता है। भगवान् ने इसीलिए कहा कि 'जो सूर्य में तेज है, जो चन्द्रमा में तेज है, जो अग्नि में तेज है उन सब को तुम मेरा ही तेज समझना।' सब भौतिक प्रकाश में भी परमात्मा का प्रकाश ही है, प्रकाश क्या करता है? जो चीज़ जैसी है उसको वैसी प्रकट कर देता है। अगर यहाँ बिजली न जल रही हो और रात के बारह बजे हों तो जो लोग यहाँ बैठे हुए हैं वे बैठे तो वैसे ही रहेंगे परंतु फिर भी आप लोगों का चेहरा, आप लोगों का स्वरूप प्रकट नहीं होगा। चाहे जितनी आँखें फाड़-फाड़ कर देखते रहें, कोई दीखेगा नहीं। अंधेरे में सब चीज़ें ढ़क जाती हैं, किसी चीज़ की वास्तविकता का पता लगता नहीं। दिन होने से या बिजली का लट्टू जलने से या दीपक जलने से प्रकाश होते ही जो चीज़ जैसी है वैसी प्रकट हो जाती है। प्रकाश किसी नई चीज़ को बनाता नहीं है, चीज़ें तो वहाँ पहले से हैं, परंतु उन चीज़ों को प्रकाशित कर देता है, जो चीज़ें जैसी हैं उनको वैसी उघाड़ देता है। यह जो उघाड़ने की शक्ति है, किसी भी चीज़ की वास्तविकता प्रकट करने की शक्ति है, इसको भगवान् ने कहा कि मेरा तेज समझना क्योंकि बिना परमात्मा के किसी भी चीज़ की वास्तविकता का पता लग

नहीं सकता । अत: जड़ जगत् में भी प्रकाश परमात्मा का प्रतीक है। न केवल सनातन धर्म में, वरन् संसार के सभी मत-मतान्तरों में, मज़हबों में परमात्मा की प्रकाशरूपता का वर्णन आता है, चाहे ईसाई हों या मुसलमान, वे उसे प्रकाश रूप कहते हैं।

किन्तु इस जड़ प्रकाश को जानने के लिए चेतन प्रकाश की ज़रुरत है। वह चेतन प्रकाश हमारे अन्त:करण में, मन में प्रकाशित होता है, मन में प्रकाशित होकर इन्द्रियों के द्वारा बाहर जाता है। आचार्य शंकर ने दृष्टान्त दिया उस दीपक का जो किसी मटके से ढ़का हुआ है; मटके के अंदर अनेक छेद हैं, उन छेदों में से उस दीपक का प्रकाश बाहर निकलता है। जो छेद तिकोना है वहाँ प्रकाश भी तिकोना दीखता है, गोल छेद में गोल दिखता है, चोकोर छेद में प्रकाश भी चोकोर दिखता है। छेद में लाल रंग का काँच लगा दें तो प्रकाश लाल रंग का दीखता है, छेद में नीले रंग का काँच लगा दें तो प्रकाश नीले रंग का दीखता है, छेद में पीला काँच लगा दें तो पीले रंग का दीखता है। इन भेदों का कारण है तिकोना छेद, चौकोर छेद, गोल छेद, उनमें लगे हुए लाल या हरे काँच परंतु उनमें से जो निकल रहा है वह दीपक का एकरूप प्रकाश ही है। 'नाना छिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरं ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहि:स्पन्दते।' इसी प्रकार से हमारे हृदय के अंदर बड़ा भारी दीपक का प्रकाश है। मन के अंदर वह प्रकाश प्रकाशित हो रहा है। हम लोगों का सिर, उलटा किया हुआ घड़ा है, मटकी है। ऊपर मटकी का गोल सिरा है, वही सिर है इसमें आँखें कान,

नाक, जीभ इत्यादि सब छेद हैं। जब वह ज्ञान इन छेदों के द्वारा निकलता है तो रूप आदि के ज्ञान की तरह प्रतीत होता है। है एक ज्ञान ही, आँखों के कारण वह रूप का ज्ञान, कान के कारण वह शब्द का ज्ञान, जीभ के कारण वह रस का ज्ञान, नाक के कारण वह गंध का ज्ञान, त्वक् के कारण वह स्पर्श का ज्ञान यों विभिन्न हो जाता है। इस प्रकार से इन छेदों के कारण रूप, रस, गंध शब्द और स्पर्श का फ़र्क होने पर भी है एक ज्ञान ही ।

ज्ञान चीज़ों को प्रकाशित कर देता है, जैसी हैं वैसा उन्हें प्रकट कर देता है। ज्ञान वस्तु को बदलता नहीं है, जैसी है वैसा प्रकट कर देता है। जैसे भौतिक प्रकाश वस्तु को बदलता नहीं है, जैसी है वैसा प्रकट कर देता है, इसी प्रकार यह चेतन ज्ञान, जैसी वस्तु है वैसा ज्ञान करा देता है, किसी वस्तु को बदलता नहीं है। सूर्य चन्द्रादि में जिस प्रकार से तेज परमात्मा का ही है उसी प्रकार अन्त:करण के अन्दर, मन के अन्दर जो ज्ञानरूप प्रकाश है यह भी मन का नहीं परमात्मा का प्रकाश है। सूर्य चन्द्र आादि में जैसे इस परमात्मा का प्रकाश, वैसे ही हमारे अन्त:करणों के अन्दर प्रकाश है यह भी मन का नहीं उस परमेश्वर का प्रकाश है। इस प्रकार जड़प्रकाश रूप से जो पदार्थों को उद्भासित करता है, ज्ञानरूप से भी वही पदार्थों को उद्भासित करता है। चाहे सूर्य चन्द्रादि बाह्य देवता हों, चाहे आँख-कान आादि अध्यात्म देवता हों, सारे एक मात्र उस परमेश्वर में ही प्रविष्ट होते हैं क्योंकि उस परमेश्वर के कारण ही ये तेज वाले हैं।

साम वेद की केनोपनिषत् में कथा आई है: एक बार देवताओं और असुरों में संघर्ष हुआ, युद्ध हुआ। प्राय: असुर जबरे पड़ते है ! पर परमेश्वर की सहायता से देवता जीतते हैं। परन्तु परमेश्वर आँख-मिचोली का खेल खेलता हैं, सब कुछ करता है परंतु करता हुआ कहीं भी दीखता नहीं। कार्य करने का अपना-अपना तरीका होता है। किसी के पास अत्यधिक धन होता है पर वह धन को दिखाता नहीं और कोई जिसके पास नया-नया धन आया हुआ हो, सीमित धन हो वह सबको दिखाता रहता है। इसी तरह से कोई व्यक्ति व्यायाम करने वाला हो तो सबको कहता फिरता है 'आजकल योगाभ्यास कर रहे हैं', और जो व्यक्ति सबेरे पांच सौ दण्ड और दो हज़ार बैठक लगाने वाला है वह किसी को कुछ कहता नहीं । परमेश्वर के अंदर पूर्ण सामर्थ्य और पूर्ण शक्ति है, अत: वह सब करता है परंतु कुछ भी करने वाला दीखता नहीं अत: लोगों को भ्रम हो जाता है।

एक व्यापारी था। व्यापार के सिलसिले में, कहीं उसका रूपया अटक गया था, वसूल कर वापस आ रहा था। पहाड़ी इलाका था, पहाड़ी इलाकों में छोटे-छोटे नाले होते हैं, अगर ऊपर पहाड़ पर पानी बरस जाता है तो नाले इतने ज़ोर से बहते हैं कि नदी जैसे हो जाते हैं। तीन-चार घन्टों के बाद जब पानी बह जाता है तब फिर नाले सूख जाते हैं। जब वह गया था तब धूप थी, तक़ाज़ा लेकर वापस जब आया तब तक पानी खूब बरस गया था तो

एक बहुत बड़े नाले में पानी बहुत ज़ोर से बह रहा था। शाम का समय हो गया था, नाले को देख कर घबराया, कि नाले को पार करता हूँ, तो बह न जाऊँ, इधर रहता हूँ तो जंगल का मामला है, इतने रूपये मेरे पास हैं, कोई चोर डाकू आएगा तो सब लूट ले जाएगा। मन डाँवाडोल करने लगा, क्या करुँ क्या न करुँ? अन्त में उसने हिम्मत करके हनुमान् जी से प्रार्थना की हनुमान् जी, हम को पार कर देना, हम आपको सौ रूपये के लड्डू चढ़ाएँगे। पानी बहुत आया हुआ था। हनुमान्जी पर विश्वास करके चल पड़ा। जब आधा नाला पार हो गया *विवेक* जाग्रत् हुआ, अरे सौ रूपये की मन्नत मान ली ! पुन: प्रार्थना करने लगा हनुमान् जी बड़ी महँगाई का ज़माना है, सौ तो नहीं पचास रूपये के लड्डु ज़रुर चढ़ा दूँगा। जब चौथाई नाला रह गया तब सोचने लगा पचास रूपये भी तो बहुत होते हैं, कहने लगा हनुमान् जी, आपको क्या फ़र्क पड़ता है ! पच्चीस तो नहीं ग्यारह रूपये के लड्डु ज़रूर चढ़ा दूँगा। जब बिल्कुल किनारे आ गया, टखने जितना पानी रह गया, किनारा सामने ही दीख रहा था, तब उसका *विवेक* पूरा जाग्रत् हो गया, बोला कोई हनुमान्जी वनुमानजी नहीं हैं, अपनी मेहनत से पार हो कर आ गया। यह तो सब ऐसे ही पण्डो ने बना रखे हैं, क्या लड्डु वड्डु चढ़ाने हैं! पहाड़ के नालों में बड़ी चट्टानें होती हैं; वह जिस पर चल रहा था वह चट्टान थी। भगवान् का तो विचित्र खेल होता है; वह तो समझ रहा था कि पार हो गया। पर वह चट्टान जहाँ ख़त्म होती थी वहाँ गड्ढा था, बड़ा गहरा पानी था, शाम हो गई थी, अंधेरा तो था ही, अगला कदम उसका उसी गड्ढे में पड़ा और बह चला ! परमेश्वर जब मदद करते हैं तब ऐसे छिप कर

करते हैं कि आदमी को लगता है कि मैंने अपनी बुद्धिमत्ता से कार्य कर लिया। भगवान् कैस मदद कर देते हैं यह सामान्य दृष्टि से दीखता ही नहीं है।

इसी प्रकार भगवान् ने जब देवताओं को जिता दिया तब देवता विचार करने लगे हम लोगों ने कितना ज़बरदस्त युद्ध किया ! हम लोग जीत गए। बहुत परिश्रम किया जिससे हमारी ही जीत हुई, हमारी ही महिमा यह है। परमेश्वर ने विचार किया, कि देवताओं और असुरों में फ़र्क ही यह है कि देवता अभिमान-रहित होते हैं, असुर अभिमानी होते हैं। देवताओं को जिताया और ये इस जीत से अभिमान करने लग गए ! अभिमान में आँएगे तो ये भी नष्ट हो जाँएगे। इसलिए इनका उपकार करें। उन्होंने एक अत्यन्त विचित्र रूप धारण किया जो सामान्य कहीं दीखता नहीं ऐसा रूप ले कर वहाँ एक चट्टान के ऊपर आकर बैठ गए, जहाँ ये देवता बैठे हुए सलाह मशविरा कर रहे थे, अपनी बड़ाई कर रहे थे। वहीं दूर एक पत्थर के ऊपर विचित्र रूप धारण करके भगवान् आ गए, उसी रूप को यक्षस्वरूपाय जटाधराय आदि स्तोत्रों में यक्ष स्वरूप कहते हैं। अकस्मात् देवताओं की उधर नज़र पड़ी, सोचने लगे कि यह विचित्र कौन है? कोई राक्षस तो नहीं बच गया है? पता लगाना चाहिए। आपस में सलाह हुई कि कौन पता लगावे?

वैदिक देवताओं में बहुत प्रधान देवता है अग्नि। वेद का प्रारंभ ही अग्नि मीहे पुरोहितम् से हुआ, पहला शब्द ही अग्नि है और पहला मन्त्र अग्नि की स्तुति करता है। अग्नि सब चीज़ों को जानता है क्योंकि सब का साक्षी है। सबने इन्द्र से कहा आप अग्नि से कहिए कि अग्नि जावें। इन्द्र राजा है, अग्नि से उसने कहा जाओ, पता लगा कर आओ कौन है, क्या है, क्या बात है। अग्नि वहाँ से चला। जब यक्ष के सामने पहुँचा तब यक्ष को देख कर अग्नि की बोलती बन्द हो गई। प्रभावशाली आदमी के पास जाकर साधारण आदमी की बोली बन्द हो जाती है। गया तो था पता लगाने, पर वहाँ जाकर गुमसुम खड़ा हो गया।? पूछने तो वह गया था पर यक्ष ने ही उससे पूछा तुम कौन हो? अग्नि ने कहा मैं अग्नि हूँ, अग्नि देवता। साथ में उसने अपना ऐश्वर्य भी गिना दिया। मैं जातवेदा हूँ। अर्थात् संसार में जो कुछ है वह उस सब को मैं जानने वाला हूँ ! यक्ष को अन्दर ही अन्दर हँसी आनी ही थी कि अपनी उपाधि लिए घूमता है जातवेदा और पता है ही नहीं कि मैं कौन हूँ ! अग्नि का तो विचार था कि मेरी पदवी सुन कर यक्ष प्रभावित होगा, पर यक्ष ने उसकी मूर्खता देखकर आगे पूछा तुम क्या कर सकते हो? वह कहने लगा मैं सब जला सकता हूँ। यक्ष ने कहा अच्छा, ऐसी बात है, उसने वहाँ एक तिनका रख दिया, कहा सब कुछ जला सकते हो तो इसको जला कर दिखाओ, पता लगे जला सकते हो कि नहीं। अग्नि को बड़ा गुस्सा आया कि यह मुझे इतना सा तिनका जलाने को कह रहा है। मैं कालाग्नि होकर संसार को जलाने वाला। जैसे कोई व्यक्ति आवे, उससे पूछें क्या पढ़े लिखे हो? वह कहे आक्सफोर्ड का ट्राईपॉस अग्रेज़ी

भाषा में किया है। उससे कहें अच्छा डॉग की स्पैलिंग कहो, तुमको आती है कि नहीं? तो वह अपना बड़ा अपमान महसूस करेगा कि पहली-दूसरी कक्षा का सवाल पूछ लिया। अग्नि ने सोचा इसको तो मैं झट से जला दूँगा यह क्या बात करता है ! जब जलाने लगा तो सारा जोर मार लिया पर वह तिनका नहीं जला सका ! जिसने अपना अभिमान बतलाया हो कि आक्सफोर्ड का ट्राइपॉज है और उसे डॉग की स्पैलिगं न आवे तो उसका क्या हाल होगा? ऐसे ही अग्नि चुपचाप वहाँ से वापस चला गया, अत्यंत अपमानित अपने को महसूस किया।

देवताओं के पास जाकर सच्ची बात नहीं बताई कि मेरे साथ ऐसा फ़जीता हुआ। आदमी अपने फ़जीते को हमेशा छिपाता है। जा कर खाली इतना ही कहा कि मुझे पता नहीं लगा। अब देवताओं ने विचार किया कि वायु देवता को भेजें। वायु बड़ा प्रभावशाली देवता है यहाँ तक कि वेद में एक जगह उसे प्रत्यक्ष ब्रह्म कहकर भी प्रणाम किया है। वायु वहाँ गया तो वायु का भी वहीं हाल हुआ। वायु यक्ष को देखकर अभिभूत हो गया, उससे कुछ पूछ-ताछ नहीं कर पाया। यक्ष ने ही पूछा तुम कौन हो? उसने कहा मैं वायु हूँ, मातरिश्वा हूँ। यक्ष ने कहा करते क्या हो? क्या है तुम्हारी ताकत? क्या कर सकते हो? वायु कहने लगा पृथ्वी में जो कुछ है सब उड़ा सकता हूँ। वह तिनका वहाँ पड़ा हुआ था ही, यक्ष ने कहा ज़रा इसको उड़ा तो दो। वायु को भी अपमान महसूस हुआ कि तिनका उड़ाने को कह रहा है, पर

उसने सारा ज़ोर लगा लिया फिर भी तिनके को नहीं उड़ा सका ! अपमानित महसूस करके वह भी वापस आ गया।

जब देवताओं के समीप पहुँचा तो अग्नि ने इशारे से पूछा क्या हुआ? तो वायु ने इशारे से कह दिया तेरी भी चुप और मेरी भी चुप। प्रकट में उसने यही कहा कि मुझे पता नहीं लगा जी, सारी बात नहीं बताई। इन्द्र ने विचार किया कि यदि अग्नि और वायु इसका पता नहीं लगा सके तो मैं स्वयं वहाँ जाऊँ। इन्द्र वहाँ खुद गए। यक्ष ने विचार किया कि देवताओं का राजा होने से इसको बहुत ही ज़्यादा घमण्ड है। देवताओं को ही घमण्ड हो रहा है यह तो उनका राजा है। यक्षस्वरूप परमेश्वर तुरंत ही लुप्त हो गए, अंतर्धान हो गए। दूसरे दोनों से बात तो की इन्द्र से बात भी नहीं की। परंतु इन्द्र के अन्दर विवेक पैदा हुआ, इन्द्र के अन्दर श्रद्धा जागी, उसे तीव्र जिज्ञासा हुई कि यह क्या था? जिसे मैं देखने आया, जिसका पता अग्नि और वायु नहीं लगा सके, वह कौन था? मन में श्रद्धा हुई, कि वह अवश्य कुछ था। यह नहीं हुआ कि मेरे आते ही गायब हो गया, मेरे से डर गया, भाग गया। उसकी जगह उसमें यह जागृति हुई कि, यहाँ कुछ था, वह क्या है, उसका पता लगाना है। यह श्रद्धा का रूप है। परमात्मा है, इसका हम पता लगावें, यह हुआ श्रद्धा का रूप। भगवान् कहीं दीखता तो है नहीं - यह है अविश्वास का रूप। इन्द्र के मन में श्रद्धा हुई, इन्द्र ने वहाँ श्रद्धापूर्वक मन ही मन विचार किया - यह कौन था, क्या था? उसने देखा कि भगवती

हैमवती उमा अत्यंत सुदंर सोने के गहनों को पहने हुए वहाँ खड़ी हुई हैं जहाँ वह यक्ष था। इन्द्र ने उनसे पूछा ये कौन था? उमा हैमवती ने सर्वप्रथम उसको बतलाया ये साक्षात् भगवान् थे, परमेश्वर थे, जिनकी सामर्थ्य से तुम लोग जीत गए और जिनको तुम जीतने के बाद भूल गए, वही परमेश्वर ये थे। इस प्रकार उमा के कहने से सबसे पहले इन्द्र ने परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त किया ।

उमा हैमवती क्या है? उमा शब्द को यदि देखो तो इसमें तीन अक्षर हैं - उ म और अ, ॐ में भी यही तीन शब्द हैं अ उ म ॐ के बारे में विचार आता है कि किस अवस्था में इसका उच्चारण करें, कौन उच्चारण करे, कैसे करे? परंतु उमा का उच्चारण करने में कोई विचार करने की ज़रुरत नहीं है। उमा कोई भी बोल सकता है। जब लगातार बोलोगे उ म अ, उ म अ, उ म अ तो अ उ म यों ॐ हो जाएगा अत: उमा का उच्चारण करने से ॐ हो जाता है। इसलिए आचार्य लिखते हैं कि यह उमा ओंकार ही है। जैसे उमा के द्वारा यक्ष का पता चला, वैसे ही ओंकार के द्वारा परमात्मा का पता चलता है क्योंकि उमा ओंकार रूप ही है। है परमेश्वर अपने स्वस्वरूप, में परंतु ओंकार की मूर्ति में ज्ञात हो जाता है। जैसे इन्द्र को यह ज्ञान हुआ कि परमेश्वर की शक्ति से ही सब देवता शक्ति वाले हैं, वैसे ही यहाँ कह रहे हैं सर्व देवा: शंविशन्ति इति विष्णु: सूर्य चन्द्रादि जो बाह्य देवता हैं आँख, कान, नाक आादि

जो अन्दर के ज्ञान-देवता हैं, सारे ओंकार स्वरूप जो परमात्मा है उसका ध्यान करने पर उसका ज्ञान करा देते हैं इसलिए उसको विष्णु कहा।

जैसे ओंकार विष्णु रूप है वैसे ही ब्रह्मा रूप भी है। सर्वाणि बृंहयतीति ब्रह्म, बृंहण का मतलब होता है किसी भी चीज़ को बढ़ाना। ओंकार की ब्रह्मा-रूपता श्रद्धापूर्वक समझनी पड़ेगी। बड़ा लम्बा चौड़ा पेड़ दीखता है। उद्दालक आरुणि अपने पुत्र को समझाने के लिए उसको व्यावहारिक प्रयोग करके बतलाते हैं: कहते हैं सामने बड़ा भारी बरगद का पेड़ दीख रहा है। बरगद का पेड़ बहुत बड़ा हुआ करता है, कलकत्ता में एक बरगद का पेड़ है वह एक किलोमीटर में फैला हुआ है! उन्होंने कहा कि उसका एक फल ले कर आ। बरगद के पेड़ का फल तो छोटा-सा ही होता है, लेकर आ गया। उन्होंने कहा इसको तोड़, तोड़ा। क्या दीखता है इसमें? बहुत ही छोटे बीज़ होते हैं बरगद के। लड़का बोला ये छोटे-छोटे बीज़ हैं। कहा इसके अन्दर देख क्या दीखता है? वह बोला, इतना छोटा है क्या दीखेगा! पिता ने कहा, और ध्यान से देख। उसने बीज़ तोड़कर देखा, तो भी क्या दीखना था ! पहले ही बीज़ बहुत छोटा होता है। उसने कहा जी कुछ नहीं दीख रहा है। पिता बोले जहाँ तुमको कुछ नहीं दिख रहा है वहीं यह सारा बरगद का पेड़ है। इस बात को श्रद्धा के द्वारा समझो। तुम चाहे जितना बरगद के बीज को देखो तुमको वहाँ कुछ भी नहीं दीखेगा, परंतु यदि श्रद्धा करते हो, उस बीज को तुम खाद के साथ ज़मीन में डाल दो, पानी देते जाओ, एक दिन

पूरा पेड़ खड़ा हो जाएगा। उसके अंदर पत्ते डालियाँ, जटाएँ, तना, मूल, फूल फल इत्यादि सारे प्रकट हो जाएँगे। बीज़ में वृक्ष है इसका पता किस से चल रहा है? श्रद्धा से। श्रद्धा करके बोना आदि करोगे तब तो वृक्ष पैदा होगा, और यदि उसकी जगह केवल कहो कि समझ नहीं आया तो उससे क्या होना है ! स्थूल दृष्टि से दीखता तो वहाँ कुछ नहीं है।

उद्दालक ने श्वेतकेतु को समझाया कि इस वटधान के अंदर जिस प्रकार सारा वृक्ष है उसी प्रकार सारा संसार परमात्मा में है। प्रलय काल में सिवाय उसके कुछ नहीं था। सृष्टि काल में सब कुछ उसी में से प्रकट हुआ। यह बात समझ में श्रद्धा से ही आएगी, अन्यथा कहोगे कि आप कह रहे हैं कि पहले तो केवल एक अखण्ड सत् था, अखण्ड से खण्ड कैसे हो गया? हुआ उसी से। ठीक इसी प्रकार यहाँ कहते है सर्वाणि बृंहयतीति ब्रह्म, ओंकार के द्वारा ही सारे वैदिक मंत्र और सारी चीज़ें प्रकट हुईं। ओंकार ही बीज़ है। बरगद के बीज़ को ठीक प्रकार से ज़मीन में बोओगे, खाद दोगे, पानी दोगे तो उसमें से सारा वट वृक्ष निकल आएगा। इसी प्रकार इस ओंकार का अपने अन्त:करण में, अपनी बुद्धि में बीज़ बोओगे और इसमें तुम विचार का जल दोगे, मन को शुद्ध और शान्त करने की खाद डालोग तो इस ओंकार से ही सारा वेद तुम्हारे सामने प्रत्यक्ष हो जाएगा। इसलिए कहा कि सब चीज़ों को अर्थात् सारे वैदिक मंत्रों को यह प्रकट कर देता है।

सर्वेभ्योन्त:स्थानेभ्यो ध्येयेभ्य: प्रदीपवत् प्रकाशयति इति प्रकाश:।

इस ओंकार को विष्णु भी कहते हैं, ब्रह्मा भी कहते हैं और इसी को प्रकाशरूप भी कहते हैं। सारे ही अन्दर के स्थान, अर्थात् आँख, नाक, कान, हृदय - जहाँ अन्त:करण रहता है; और जो बाहर सूर्य चन्द्रादि ध्येय हैं, जिनका ध्यान किया जाता है; उन सब से यह ओंकार अलग है - इस प्रकार से समझना है। उसके प्रकाश से सूर्य चंद्रादि प्रकाशित हैं, इसी प्रकार से उसके प्रकाश से ही तुम्हारे अंत:करण आँख, नाक, कान आदि सब प्रकाशित हैं। परंतु वह इन सब से अलग है। ये तो उसके बिना कुछ नहीं हैं परंतु इन सब के बिना भी वह तो सब कुछ है, क्योंकि वही तो बीज़ है। ठीक जैसे बरगद के पेड़ में बीज़ है तो बाकी सब चीज़ें निकल आएँगी। परंतु बाकी सब चीज़ें हों और बीज़ नहीं हो तो वृक्ष नहीं उगेगा। ठीक इसी प्रकार से ओंकार के द्वारा प्रतिपादित परमात्मा अंदर-बाहर के प्रकाशों से अलग है। उससे सब प्रकाशित होता है, उसके बिना कोई प्रकाश नहीं हो सकता। सूर्य चन्द्रादि जो ध्यान के विषय हैं उन सबसे ओंकार अलग हैं, कैसे? तो प्रदीप की तरह। जैसे दीपक रखा हुआ है मटके के नीचे, जो तिकोना, चौकोर, गोल प्रकाश आ रहा हैं उन सब से अलग प्रदीप है। प्रदीप के बिना उन सब के अंदर कोई प्रकाश नहीं। वैसे ही दीपक की तरह सब को प्रकाशित करता है इसलिए उसको प्रकाशरूप भी कहा है, वही प्रकाशरूप है वही कारण होने से व्यापक अर्थात् विष्णुरूप है, उसी में से ये सब निकलता है इसलिये ब्रह्मा-रूप है।

उपासना

अथर्वशिखोपनिषत् के अनुसार ओंकार का विचार कर रहे हैं। ॐ की ब्रह्मा-विष्णु-प्रकाश रूपताओं का वर्णन कर उपनिषत् ने कहा :

प्रकाशेभ्य: सदोमित्यन्त: शरीरे विद्युद्वद् द्योतयति मुहर्मुहुरिति विद्यद्वत्, प्रतीयां दिशं भित्त्वा सर्वाल्लोकान् व्याप्नोति व्यापयतीति व्यापनाद् व्यापी महादेव:।

सूर्यादि प्रकाशों द्वारा परमेश्वर का ही प्रकाश जड़रूप में प्रतीत हो रहा है और मन-इंद्रियादि द्वारा वही ज्ञानरूप में प्रकाशित हो रहा है। दोनों रूपों में प्रकाशित परमात्मा ही हो रहा है। सब प्रकाशों को देखना पहला कदम, इनमें जो एक प्रकाश स्वरूप उसे समझना दूसरा कदम है। शास्त्रों ने उपासना का विधान किया है क्योंकि उसके अभ्यास से हम अपनी इच्छा पर नियंत्रण कर सकते हैं। इच्छा में जीव की स्वतन्त्रता है। मन की कामना से एकमेक हो रखी है इसलिये अविवेकी इनका फ़र्क नहीं पहचान पाता। कामना में वासना की अधीनता से परतंत्रता है, मन की अधीनता है जबकि इच्छा वह है जो वासना के, मन के अधीन नहीं है। अज्ञानदशा में हम मन से इतनी ज़्यादा घनिष्ठ एकता रखते हैं कि उससे हम अलग हैं यह समझना अत्यंत कठिन है। है तो खुद को स्थूल शरीर से अलग जान पाना भी कठिन परन्तु मृत्यु का हमें ज्ञान होते रहने से कम से कम हमें यह परोक्ष ज्ञान तो हो जाता

है कि हम शरीर से अलग हैं। शरीर से मैं सर्वथा भिन्न हूँ - यह वास्तव में स्पष्ट अपरोक्ष तो सरलता से नहीं ही हो पाता, परोक्ष बोध भी मृत्यु आदि के विचार से ही होता है। शरीर से एकता तो अपरोक्ष प्रतीत होती है, भेद का परोक्ष ज्ञान हो पाता है। शास्त्र के व गुरुओं के वाक्यों से एवं युक्ति से समझ तो आता है कि मैं शरीर से अलग हूँ पर प्रतीति तो मैं की शरीर से एक होकर ही बनी रहती है। स्थूल शरीर से अलगाव का परोक्ष ज्ञान हो जाता है लेकिन मन से अपने भेद का परोक्ष ज्ञान भी अत्यंत कठिन है मन को अपने से अलग करके जानना भी मन से ही संभव है, कुछ भी जानने के लिये हमारे पास साधन मन ही है। इस अंतर का प्रभाव है कि शरीर के विकारों को ये मेरे विकार हैं ऐसा हम महसूस नहीं करते जब कि मन के विकार हमें अपने ही विकार लगते हैं। शरीर के विकारों के कारण तो अपने में विकार प्रतीत होता है जैसे पैर नहीं चल रहा इसलिये मैं लगंड़ा हूँ, आँखें देख नहीं रही इसलिये मैं अन्धा हूँ अर्थात् शरीर के विकार से अपने को विकृत समझते हैं लेकिन लगता है कि शरीर के कारण विकार है, सचमुच में मैं विकृत नहीं हूँ। पैर बिगड़ जाये तो ऐसा नहीं लगता कि मैं खराब हो गया वरन् लगता है मैं तो ठीक हूँ, पैर में खराबी आ गई। खराब कहो, विकृत कहो - एक ही बात है। एकता के अनुभव के कारण पैर के विकार से यह तो लगता है कि मैं लंगड़ा हो गया परंतु मैं बिगड़ गया, मैं खराब हो गया, - ऐसा नहीं लगता। अथवा वह व्यक्ति बिगड़ गया है - ऐसा नहीं है। वह लंगड़ा हो गया - यह तो लगता है, अन्धा हो गया - ऐसा लगता है। परंतु वह विकलांग हो गया इतने मात्र से

बिगड़ गया, ख़राब हो गया - ऐसी प्रतीति नहीं होती है। परंतु मन जब कामी हो जाता है तब क्या लगता है? मन क्रोधी हो जाता है तब क्या लगता है? मैं क्रोधी हो गया, मैं विक्षिप्त हो गया मुझ में बिगाड़ आ गया, मुझ में खराबी आ गई। इसी प्रकार किसी दूसरे में हम काम, क्रोध, लोभ आादि देखते हैं तो क्या लगता है - ये आदमी बिगड़ गया। घर में कई बार अनुभव करोगे; कई लोग यहाँ वृद्ध भी बैठे हुए हैं, उनका पैर नहीं चलता अथवा कमर में दर्द रहता है तो घर वाले यही कहते हैं कि उम्र हो गई है, आप आराम किया करिये; यही कहते हैं। परंतु कभी किसी को डाँट दें क्रोध कर दें, तो खाली यह नहीं कहते हैं कि शान्त रहा करिए, क्या कहते हैं? इतना सत्संग सुनकर आते हैं अभी तक *आपका* क्रोध गया नहीं! रोज़ सुनते हैं पर कोई अंतर हुआ नहीं। उनको लगता है कि मन में खराबी आई तो तुम में खराबी आ गई। शरीर में खराबी आई तो शरीर के कारण तुम खराब *लग* रहे हो, लेकिन सचमुच तुम बिगड़े नहीं हो। परंतु मन के बिगडने से ऐसा लगता है कि तुम सचमुच बिगड़ गए। खुद अपने को और दुसरे को भी ऐसा लगता है। इसका कारण है कि मन से अलग करके अपने को परोक्षरूप से भी जान नहीं रहे। अन्यथा, जैसे शरीर अपने नियमों से चलता है ऐसे मन अपने नियमों से चलता है, जैसे शरीर के विकारों से मैं नहीं बिगड़ता ऐसे मन के विकारों से भी मैं नहीं बिगड़ता। उड़द की दाल, भैंस के दूध का दही ज़्यादा खा लो तो खूब ज़्यादा नींद आती है। जैस नीदं आने का कारण वह खाना है ठीक इसी प्रकार हमारे मन में

जन्म जन्मातंर से और यहाँ भी बचपन से जो वासनाएँ हैं उनके अनुसार ही मन भी अपना काम करता है।

मन को बदल नहीं सकते - यह नहीं कह रहे हैं। जैसे कोई कमज़ोर है पर धीरे-धीरे व्यायाम करे, दण्ड बैठक करे, तो कुछ-न-कुछ अधिक बलवान् हो जाएगा इसी प्रकार से मन को सुधारा जा सकता हैं। परंतु जैसे एक दिन में कोई सोचे मैं कमज़ोर हूँ और गामा पहलवान से लड़ने वाला बन जाऊँ तो नहीं बन सकता। ऐसे ही तत्काल मन में भी परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। आखिर अनेकों लोग टैनिस खेलते हैं, बैडमिन्टन खेलते हैं, क्रिकेट खेलते हैं; कोई एक ही तो ऐसा होता है जो सबसे ज़्यादा जीतता है। ठीक से समझना, विचार की बात बतला रहे हैं। सबसे ज़्यादा जीतने वाला भी ऐसा नहीं है कि किसी न किसी जगह उसका दाव खाली न चला जाए। क्रिकेट के बल्लेबाज़ की कितनी भी अच्छाई होवे लेकिन एक सीमा है, सौ में दो चार बार तो चूकेगा ही, कितना ही बढ़िया दाव खेलने वाला गामा पहलवान हो कहीं-न-कहीं तो दाव चूकेगा ही। कितना ही बढ़िया टैनिस, बैडमिंटन खेलने वाला हो, कहीं-न-कहीं तो चिड़िया उसके साथ दगा करेगी ही। सबसे अच्छा होने पर भी सब समय नहीं जीतता और सबसे अच्छे एक दो ही होगें। इन सब क्षेत्रों में तो हम मान लेगें कि सब लोग खेलने वाले एक जैसे कैसे हो जाएँ। परंतु मन के विषय में हम ऐसा नहीं मानते। कोई एक-आध ऐसा होगा जो काम, क्रोधादि विकारों को सबसे ज़्यादा दबा लेगा

और जो ज़्यादा दबाने वाला है वह भी कभी-कभी चूकेगा। सब लोग अत्यधिक बल से मन को सर्वथा नियंत्रित करने वाले नहीं हो सकते क्योंकि बचपन से ही अभ्यास का फ़र्क है, मन की वासनाओं का फ़र्क है। यदि चाहो कि कभी भी न चूके तो बिना दु:ख हुए और कुछ नहीं होना है क्योंकि बीच-बीच में कभी न कभी दाव चूकोगे ही। सबसे ज़्यादा जो जीतता है वैसा मैं क्यों नहीं? ये सोचोगे तो दु:खी ही होते रहोगे। खेल में अव्वल तो एक ही होगा, पर इसका मतलब यह नहीं है कि दूसरे खेल नहीं रहे हैं। ठीक इसी प्रकार काम क्रोधादि-विकारों को *साधना में लगे* सभी *लोग* दूर कर रहे हैं, किसी का सर्वाधिक दूर होता है, किसी का उससे कम दूर होता है। सर्वाधिक दूर होने वाला भी कभी-कभी चूकता है।

ज्ञान बतलाता है कि जैसे शरीर के विकारों से *तुम* विकृत नहीं वैसे ही मन के विकारों से तुम विकृत नहीं, जैसे शरीर के खराब होने से तुम खराब नहीं हो जाते, बिगड़ नहीं जाते, उसी प्रकार मन के बिगड़ जाने से, मन के खराब हो जाने से तुम न खराब होते हो न बिगड़ते हो । इसलिए कभी कदाचित् मन चूक गया, तो हम अपने स्वरूप से च्युत हो गए ऐसी बात नहीं है, स्वरूप तो जैसा है वैसा ही रहेगा। परंतु मन के साथ इतना ज़्यादा एकीकरण हो रखा है, इसीलिए मन का नियंत्रण सीखना ज़रूरी है क्योंकि रहना तो मन के साथ है, जैसे शरीर के साथ रहना है। तुम जानते हो मैं शरीर से अलग हूँ, परंतु जानने पर भी जब तक शरीर के साथ हो तब तक शरीर का सुख-दु:ख होगा ही। इसलिए यथासंभव शरीर को

ठीक रखोगे। अगर कहीं का जल-वायु अनुकूल नहीं पड़ता और बीमार रहते हो तो दूसरे देश चले जाते हो। ठीक इसी प्रकार जहाँ का वातावरण मन के अनुकूल नहीं पड़े उस वातावरण से मनुष्य को दूर भी जाना पड़ सकता है। शरीर खराब हो जाए फिर भी हमें इसी जल-वायु में रहना है यह आग्रह रहा तो शरीर का सुख-दु:ख भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार मन की परिस्थिति है। मन को धीरे-धीरे ठीक करना है शरीर से अलग होने पर भी, क्योंकि शरीर में जब तक रहेंगे तब तक उसके सुख-दु:ख से संबंध भी होगा, इसलिये जैसे शरीर को ठीक रखने का प्रयत्न करते हैं,वैसे ही मन के साथ जब तक रहेंगे तब तक मन के सुख-दु:ख से सुख-दु:ख होगा, मन को ठीक रखेंगे तो उसमें सुख-दु:ख कम होंगे। नहीं होंगे - यह नहीं कह रहे हैं। वेद कहता है कि शरीर में रहते हुए सुख-दु:ख न होवे ये संभव ही नहीं है। शरीर मन को ठीक रखोगे तो सुख-दु:ख शरीर मन में कम होंगे तो उसके साथ रहने में सुविधा होगी । जैसे शरीर को सुधारने में काम करेगें शरीर के नियम, ठीक समझना । मैं शरीर के अंदर रहने वाला शरीर से भिन्न साक्षी हूँ, ये याद हो जाएगा क्या? अगर आँख में मोतिया है, आँख धुधंला देखती है तो साक्षी उस धुंधलेपने को भी ऐसे ही जानता है जैसे साँप को जानता है। मैं साक्षी हूँ इस ज्ञान से तुम्हारी आँख तो साफ नहीं हो जाएगी, अथ्वा तुम्हारी हड्डी टूटी हुई है तो मैं टूटी हड्डी वाले शरीर में रहने वाला उससे भिन्न असँग साक्षी हूँ इस ज्ञान से हड्डी जुड़ जाएगी क्या? जैसे शरीर को ठीक रखने के लिए जो शरीर के नियम हैं, हड्डी को जोड़ने के जो शरीर के नियम हैं आँख को ठीक करने के वही करने

पड़ेगें, तब शरीर ठीक होगा। इसी प्रकार से मन को ठीक करने के लिए मैं मन का साक्षी हूँ, इससे मन ठीक नहीं हो जाएगा। साक्षी तो मन की खराबी का भी वैसा ही है जैसे मन के अच्छेपने का। मैं निष्काम हूँ तो ये भी साक्षी जानता है, मैं सकाम हूँ तो ये भी साक्षी जानता है। साक्षी के तो दोनों में कोई फ़र्क नहीं है कि एक के आने से दूसरा चला जाए। तो शरीर के नियम करने पर भी, मन का नियंत्रण करने पर भी मन का सुख-दु:ख कम होगा। मन के बिगड़ने से साक्षी बिगड़ता नहीं है, हमको ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि हम उससे एक हुए हुए हैं । अब चूँकि मन से अलग होने का प्रोक्ष ज्ञान भी नहीं है इसलिए शास्त्रों ने मन को ठीक करने के साधनों पर अधिक बल दिया। मन को ठीक करने का साधन ही उपासना है, क्योंकि उपासना में क्या करते हैं? शास्त्र जो कहता है उसी चीज़ को तुम इच्छापूर्वक करते हो तो मन की इच्छा न होने पर। ऐसे समझ लो, किसी भी काम को करोगे तो इच्छा से ही करोगे। ये जो भगवान् भाष्यकार बार-बार कहते हैं अविद्या-काम-कर्म, बिना अज्ञान के कामना नहीं हो सकती, बिना कामना के कर्म नहीं हो सकता। परंतु कामना दो तरह से हो सकती है एक अपूर्व वासना से एक दूसरे के द्वारा। जैसे सरकारी नौकरी करता है बहुत से कामों को करना नहीं चाहता परंतु सरकार का कानून है इसलिए उसके अनुसार उसको वह काम करना पड़ता है। यहाँ पर चाहे संविधान मानो, चाहे कानून मानो विधान मानों उसके अधीन होकर के करना पड़ता है। इधर वाले समझ लेगें उधर वालों को मुश्किल होगी थोड़ी। आप लोग जितने यहाँ बैठे हैं कोई भी दिल से सरकार को टैक्स देना चाहता है। टैक्स देने

की अपनी कामना तो नहीं है परंतु नहीं देंगे तो दोगुना, दो सौ प्रतिशत तुमको दण्ड भुगतना पड़ेगा। इस डरके मारे तुम सरकार की इच्छा से टैक्स देते हो। दे तो यहाँ भी इच्छा से रहे हो लेकिन अपनी इच्छा से नहीं किसी दूसरे की इच्छा से। और जब टैक्स की चोरी करते हो, बाजार में खरीदने गए दो हजार रूपये का ब्रैसलैट खरीदा, वह कहता है बिल बनाऊँ कि नहीं, तो कहते हो ये आठ प्रतिशत सेल्सटैक्स क्यों दूँ अपने को किसी को हिसाब तो देना नहीं है कहते हो कोई ज़रूरत नहीं है। ये किसी दूसरे ने तुमसे नहीं कहा है कि नहीं देना, ये तुम अपनी इच्छा से कर रहे हो। टैक्स देते हो दूसरे की इच्छा से बचाते हो अपनी इच्छा से, लेकिन कर्म के प्रति कारण, इच्छा ही है चाहे अपनी हो चाहे दूसरे की।

अब उपासना में क्या करते हो तो शास्त्र की आज्ञा के अनुसार करते हो। अपनी इच्छा को छोड़ कर शास्त्र की इच्छा के अनुकूल करते हो। इससे धीरे-धीरे मन अपनी वासनाओं के अनुकूल चलने में प्रयुक्त होने की अपेक्षा परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार उसकी इच्छानुसार, चलने का आदी बनने लगता है, आदत बनने लगती है, अभ्यस्त होने लगता है। ठीक जिस प्रकार से बच्चा, जब बिल्कुल छोटा है, महीने भर का, तो जब उसको भूख लगती है तब वह भोजन करता है, चाहे रात में दो बजे भूख लगे जब तक माँ दूध नहीं पिलाएगी वह रोता ही रहेगा। जब भूख लगी तब खाना है। इसी प्रकार जब उसको मल मूत्र का वेग आएगा तब चाहे जो समय हो, चाहे जो आदमी हो सर्वत्र झट मल-मूत्र का विसर्जन कर देगा। सर्वथा

जैसी उसकी इच्छा है उसके अनुसार ही वह करेगा। जब बच्चा बड़ा होने लगता है तब धीरे-धीरे सीखने लगता है कि चाहे जब खाया नहीं जाता, चाहे जहाँ मल-मूत्र नहीं छोड़ा जाता। धीरे-धीरे उसकी आदत बन जाती है। बड़ी उम्र में आकर ऐसी आदत हो जाती है कि जो समय खाने का है उस समय भूख भी लगती है और उस समय खाने को न मिले, घण्टा दो घण्टा निकल जाएँ, तो कहते हैं अब भूख मर गई। पेट में कुछ गया नहीं तो भूख मिट कहाँ से गई ! तुम ऐसे अभ्यस्त हो गए हो, ऐसे आदी हो गए हो कि उसी समय तुमको भूख लगती है, उसके आगे पीछे भूख लगती ही नहीं। पेट में भोजन होवे तो भी उस समय भूख लग जाती है। भारी भोजन कर लो दो घण्टे पहले तक कहते हो कि आज कुछ नहीं खाऐंगें भूख नहीं है, पुराने जमाने की पत्नियाँ जानती हैं वे कुछ हलका भोजन बना देती हैं, कढ़ी-खिचड़ी बना देती हैं। भोजन का समय होने पर कहती हैं थोड़ा सा खा लीजिए। वह समय आते-आते भूख भी लग जाती है क्योंकि आदत है उस समय खाने की, तो कहते हो अच्छा, तुम कहती हो तो खा लेता हूँ। समय पर ही खाने की आदत हो गई है। ऐसे ही मल-मूत्र विसर्जन की आदत हो जाती है। उस समय ही हम लोगों की प्रवृत्ति होती है।

जैसे ये अभ्यास हो गये हैं वैसे ही उपासना के द्वारा मन को जब हम शास्त्रों से प्रवृत्त करते हैं, शास्त्रानुकूल चिंतन करने का जब मन आदी बन जाता है, तब हमारा मन शास्त्रानुकूल

सोचता है और लगता है हम ही सोच रहे हैं। जैसे घर के कार्यक्रम के अनुसार भूख लग रही है परंतु लम्बे समय तक अभ्यास करने के कारण यह नहीं लगता कि हमारे घर दस बजे भोजन बनता है *इसलिए* मुझे दस बजे भूख लगनी है। वरन् इतना अभ्यास हो जाता है कि जब किसी दूसरे को देखते हैं कि वह दो बजे खाता है तब लगता है कि इसे दो बजे तक भूख कैसे नहीं लगी होगी ! जो दो बजे खाने का आदी है उसको लगता हे कि ये दस बजे खा कैसे लेते हैं, भूख कैसे लग जाती है ! यद्यपि यह आदत हमने डाली है तथापि आदत ऐसी हो गई है कि हम इसे सहज समझते हैं, स्वाभाविक समझते हैं । ठीक इसी प्रकार जब हम दीर्घकाल तक शास्त्र के अनुसार अपनी इच्छा बनाएँगे तब अन्ततोगत्वा ऐसी आदत हो जाएगी, ऐसा अभ्यास हो जाएगा कि हम को लगेगा कि यह सोचना ही हमारा सोचना है।

इसलिए शास्त्रकारों ने उपासना के प्रकार बताये हैं। उपासना के अंदर किसी न किसी आधार पर उपासना की जाती है। यहाँ पर ओंकार के आधार से उपासना को बतला रहे हैं। उपासना मात्र का लक्षण है कि शास्त्र में बताये ढंग की वृत्तियों का लगातार प्रवाह बनाये रखना। आलम्बन या आधार के सहारे की जाने वाली उपासना में दो अवस्थाएँ हैं। एक के अंदर आलम्बन प्रधान रहता है। जो आलम्बन है, प्रधान रूप से उसका ध्यान करते हैं, परंतु उसके अंदर उत्कृष्ट चिंतन करते हैं, उसके जो गुण नहीं हैं ऐसे श्रेष्ठ गुण उस में ऐसा सोचते हैं। ध्यान तो है आलम्बन का परंतु, उसी की उत्कृष्टता का चिंतन है। इसी को

प्रतीक उपासना कहते हैं। जैसे सामने मूर्ति खड़ी है शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किए हुए भगवान् विष्णु की मूर्ति खड़ी है। खड़ा तो पत्थर का रूप है और ध्यान भी हम उसी का कर रहे हैं परंतु उसके बारे में यह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है, सारी सृष्टि, स्थिति, लय को करने वाला है। यह उत्कृष्ट चिंतन कर रहे हैं परंतु जिस मूर्ति का ध्यान कर रहे हैं, वह है प्रतीक, आलम्बन, वह प्रधान है जो चीज़ सामने है वह प्रधान है, उसका ध्यान कर रहे हैं । परंतु उसके अंदर उत्कृष्ट अर्थात् श्रेष्ठ गुणों का चिंतन करते हैं कि ये सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सृष्टि, स्थिति, लय को करने वाले भगवान् हैं। ऐसा ही ॐ में होता है । ओम एक आहत ध्वनि है। हम जब कण्ठ, तालु आदि का आघात करते हैं तब ॐ व्यक्त होता है। जब कण्ठ, तालु आदि का आघात नहीं करते केवल मन से ॐ - ऐसा सोचते हैं तब भी ॐ को सोचते हैं वह तो कण्ठ, ताल आदि के आघात से उत्पन्न होने वाला ही है उसकी ही वासना से उत्पन्न होता है। है वह एक शब्द, पर हम उसके अंदर भावना कर रहे हैं यह विष्णु है, यह ब्रह्मा है, सर्वदेवतारूप है। यहाँ ॐ का ध्यान कर रहे हैं, उसके अंदर श्रेष्ठ गुणों का चिंतन कर रहे हैं जैसे सामने खड़ी पत्थर की मूर्ति का ध्यान कर रहे हैं परंतु उसमें सर्वज्ञ, शक्तिमान् का चिंतन कर रहे हैं।

उपासना की दूसरी अवस्था इससे मिलती-जुलती सम्पत् उपासनायें हैं। यहाँ जिसका आलम्बन कर रहे हैं उस आलम्बन को भूल जाते हैं, उसको नज़रअंदाज कर देते हैं। पहले

वहाँ नज़र टिकाते ज़रुर हैं, लेकिन नज़र टिकाने के बाद उस को छोड़ देते हैं, परिछिन्न उपाधि अर्थात् आलम्बन को तिरस्कृत कर देते हैं और उत्कृट, श्रेष्ठ जो ध्येय है उसी का चिंतन करते हैं। जैसे सामने की पत्थर की मूर्ति को भूल जाना; शालिग्राम में विष्णु का ध्यान करना हैं: शालिग्राम गोल है, उसको तो भूल जाते हैं, उसकी जगह उत्कृष्ट जो बैकुण्ठवासी विष्णु, उनका ध्यान करते हैं। इसी प्रकार ओंकार में ध्यान करने से धीरे-धीरे तद्रूपता बनने लगती है। ज़बरदस्ती करने से भी उपासना फलीभूत होती है।

एक राजा की लड़की ने मन ही मन निश्चय किया मैं तो केवल विष्णु से ही शादी करुँगी। ऐसा निश्चय कर विष्णु का चिंतन करती थी। उसी शहर के अंदर एक सुनार का लड़का था। उसने उस लड़की को देखा और उस पर वह मुग्ध हो गया, उसने निश्चय किया मैं इससे शादी करुँगा। जब उसे पता लगा कि वह तो केवल विष्णु से ही शादी करेगी तब वह बड़ा दु:खी हो गया। धीरे-धीरे उसका शरीर कमज़ोर होता चला गया, दुबला हो गया। उसका एक मित्र था, उस मित्र ने पूछा अरे भाई क्या बात है तु इतना दु:खी क्यों है, क्या कारण है? पहले तो टालमटोल करता रहा, फिर उसने कहा कि मैं राजकुमारी से ब्याह करना चाहता हूँ। उसने कहा बात चला के देख लेते हैं। उसने कहा कुछ नहीं होगा, वह तो विष्णु से ही शादी करेगी। दोस्त था बढ़ई, लकड़ी का काम करने वाला कारीगर। उसने कहा अगर ऐसा ही है तो कोई बात नहीं मैं तेरे को विष्णु बना देता हूँ ! उस लड़के

के शरीर पर उसने दो सुन्दर हाथ लकड़ी के लगा दिए, एक उड़नखटोला बना दिया गरुड की शक्ल का और कहा इसमें बैठ कर तुम रात को जाना, वह तुझे विष्णु समझेगी। तुम कहना मैं विष्णु हूँ शादी हो जाएगी। परंतु ख्याल रखना मैं विष्णु हूँ इस बात को कभी भूलना नहीं। इसके लिए विष्णु चरित्रों को अच्छी तरह से चिंतन करके हृदय में बैठा लो ।

बहुरूपिया बनना सरल नहीं हुआ करता, बहुरूपिये को बड़ा प्रयत्नशील रहना पड़ता है। एक बार किसी बहुरुपिये को किसी राजा ने कह दिया तुमने हम को बहुत खेल दिखाए, अब हमको तुम्हारा और खेल नहीं देखना। उसने कहा राजन् कोई नया खेल कहो तो दिखला दूँ। राजा के मन में आया, उसने कहा मुझे तु संन्यासी बन कर दिखा मैं तेरे को मुँह माँगा इनाम दे दूँगा। उसने कहा मुझे साल भर का समय दो। वह चला गया, राजा भूल-भाल गया। साल डेढ़ साल के बाद उस गाँव में एक सिद्ध महात्मा आए। उनके त्याग, वैराग्य से लोग बड़े प्रभावित हुए, धीरे-धीरे बात रानी जी तक पहुँची। रानी ने राजा से कहा बड़े अच्छे महात्मा आए हुए हैं उनके दर्शन करने के लिए चलना चाहिए। राजा ने भी मान लिया, जा कर उनके दर्शन किए, उनकी बातों से बड़े प्रभावित हुए। रानी ने प्रसन्न हो कर उसको अपना नौ लखा हार चढ़ाया। महात्मा पहले ही कहते थे यहाँ चढ़ाना कुछ नहीं फिर भी जब रानी ने चढ़ा दिया तब उन्होंने वह हीरों का नौ लखा हार आग में डाल दिया ! राजा-रानी इस विश्वास से लौट आये कि महात्मा बड़े त्यागी हैं। अगले दिन वह बहुरूपिया

राजसभा में आया और उसने राजा को सलाम किया। राजा ने कहा अरे ! बहुत दिन के बाद आया क्या बात है? , बोला हूज़ूर, आपने कहा था न, संन्यासी का खेल दिखाना? राजा बोले! हां फिर? उसने कहा कल आप देख तो आए। अब मेरा इनाम दीजिए। राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ, बोला वह नौ लखा इतना कीमती हार तुमने अग्नि-कुण्ड में डाल दिया ! वह बोला हूज़ूर आपने कहा था संन्यासी का खेल देखना है; अगर कल मैं वह हार रख लेता तो भेष का अपमान हो जाता, तब वह संन्यासी का रूप नहीं रह जाता। आज मैं अपने बहुरुपिये के रूप में हूँ आप मुझको इनाम दीजिए। बहुरूपिया वह होता है जो जिस रूप को धारण करे उसके अनुकूल सारा कार्य करता है। इसलिये उसने साल-भर तक प्रयत्न करके संन्यासी के सारे नियम सीखे।

इसी प्रकार उस सुनार के लड़के को उस बढ़ई के लड़के ने विष्णु का चरित्र सीखने को कहा। उसने खूब अच्छी तरह विष्णु पुराण इत्यादि का अध्ययन कर के तद्नुरूप ही अपने को ढालना शुरू किया। मैं विष्णु हूँ ये उसने अपना अभिमान बनाया। एक रात वह उस गरुड के ऊपर बैठ कर राजमहल में गया। उसने राजकुमारी से कहा मैं आया हूँ, तुम्हारी इच्छा के अनुरूप अब मुझसे ब्याह कर लो। राजकुमारी ने उसे विष्णु समझकर, ब्याह कर लिया। उसने कहा मैं आया करुँगा अधेंरे में जिस प्रकार भगवान् विष्णु ने राम

और कृष्ण अवतारों में दो हाथ वाली मूर्ति रखी, उसी तरह आऊँगा। अभी तो तुम्हे चतुर्भुजी रूप में दर्शन दे दिया। राजकुमारी ने कहा ठीक है ।

राजकुमारी ने अपने माता-पिता से कहा कि 'इस प्रकार भगवान् विष्णु से मेरा विवाह हो गया, वे रात को आते हैं।' राजा को मन ही मन निश्चय हो गया जब विष्णु ही मेरे जमाई बन गए तब डर किस बात का ! उसने धीरे-धीरे अपनी फौज कम कर दी, कि बेकार में क्यों खर्चा करना। पड़ोसी राजाओं को पता लग गया, उन्होंने आक्रमण कर दिया। राजा ने प्रार्थना की अपनी लड़की से कि 'उनसे कहो कि हमारे ऊपर आक्रमण हुआ है, तो आप हमारी रक्षा करें।' लड़की ने पति से कहा। इतने समय तक निरंतर विष्णु-चिन्तन करते-करते उसके अन्दर यह भाव दृढ हो गया था कि **'मैं विष्णु रूप हूँ';** उधर उस ध्यान के प्रभाव से भगवान् विष्णु की कृपा भी हो गई थी क्योंकि चाहे जिस भी कारण से किया किंतु वह निरन्तर प्रत्ययावर्तन तो कर रहा था कि **'मैं विष्णु हूँ'**; विष्णु के अतिरिक्त और किसी का ध्यान कर नहीं रहा था। किसी भी उद्देश्य से की जाए, उपासना तो अपना फल देगी ही। ऐसे समझ लो, तुम साधारण नदी समझ कर भी गंगाजी में गोता लगाओगे तो भी तुम्हारे पाप तो दूर होंगे ही, भले ही तुमको पता नहीं है कि ये गंगाजी हैं। इसी प्रकार जिस भी उद्देश्य से तुम उपासना करो, वह सफल तो होगी ही इसलिए उस ध्यान के प्रभाव से

भगवान् विष्णु ने आकर उसकी मदद की और शत्रुओं को मारा। किसी भी उद्देश्य से उपासना की जाए, वह सफल होती है। वह सुनार अपने में विष्णु की भावना कर रहा था, अपने को भूल कर केवल 'मैं विष्णु हूँ' समझ रहा था अर्थात् स्वयं वह जो आलंबन था उसका तिरस्कार कर विष्णु की उपासना कर रहा था।

इस तरह दो प्रकार की उपासना होती है। सब उपासनाओं में प्रत्ययावृत्ति तो एक जैसी है परंतु एक में आलम्बन की प्रधानता है और दूसरी में आलम्बन का तिरस्कार है। कल जो उपासना बतलाई थी उसके अन्दर आलम्बन की प्रधानता थी । आगे उपनिषत् कहती है 'प्रकाशेभ्यो सदोम् इति अन्तःस्शरीरे विद्युद्वद्द्योतयति मुहुर्महुरिति विद्युद्वत्' जो आकाशादि प्रकाश्य हैं और चक्षुरादि प्रकाश हैं दोनो ही से भिन्न अर्थात् जिस ॐ का मैं ध्यान कर रहा हूँ उस से अलग उसका जो ज्ञान हो रहा है, बस उसको लेना है। यह ध्यान सदा अर्थात् हर समय करना है। प्रकाशरूपता का ध्यान तो कल भी बतलाया था लेकिन वहाँ ॐ प्रकाशरूप था और यहाँ ॐ भी प्रकाश्य है, उसका भी जो केवल चिन्मात्र प्रकाश है उसकी उपासना है। यह शुरू-शुरू में कैसा होता है? जैसे विद्युत का पलकारा होता है, जैसे बिजली चमकती है। क्षण-भरके लिए तो प्रतीत होगा कि ॐ प्रकाश्य है और उससे भिन्न प्रकाशरूपता है। परंतु उसके बाद बिजली के नहीं चमकने जैसा अंधकार प्रतीत होने लगेगा, क्योंकि अभी अभ्यास नहीं है। जब तक ॐ रहेगा तब तक प्रकाश का भान रहेगा

जहाँ ॐ गया वहाँ प्रकाश का भी भान क्षण मात्र रह कर ख़त्म हो जाएगा। यदि ज्ञान का भान रखने की कोशिश करोगे तो ॐ का भान बना रहेगा इसलिए फिर ॐ प्रधान हो जाएगा। शुरू में तो बिजली के चमकने की तरह क्षणमात्र को ज्ञान प्रधान होकर रहेगा, इसके बाद कोई न कोई ज्ञेय आकार ले लेगा। यह जो बिजली के जैसा कौंधना है, यही आगे जा कर प्रतीयां दिशं भित्त्वा सर्वाल्लोकान् व्याप्नोति जब दृढ हो चुकेगा तब ऐसा हो जाएगा कि सारे संसार में कोई भी चीज़ आवे, तुम्हारे सामने सिवाय चिन्मात्र के और किसी भी चीज़ की प्रतीति नहीं रहेगी, सारे लोकों को, सारे विषयों को यही व्याप्त कर लेगा। व्यापयतीति व्यापनाद् व्यापी महादेवः इस प्रकार से यह सब चीज़ों में एक रूप बना रहता है इसीलिए इसको महादेव कहते हैं ।

इस प्रकार आलम्बन सहित उपासना में पहले आलम्बन प्रधान रहता है, फिर आलम्बन का तिरस्कार होता है और अंत में आलम्बन सर्वथा नहीं रह कर केवल प्रकाश मात्र रह जाता है तब उसको महादेव कहते हैं। इस तत्त्व की प्राप्ति का साधन ॐकार ही है। ओंकार को छोड़कर दूसरी कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो पर और अपर और पर-अपर सब से अतीत की प्राप्ति करा सके। इसलिए इसको ही यहाँ महादेव कहा। यहाँ तक ॐकार की उपासना का रूप बतलाया। यहीं द्वितीय खण्ड पूरा होता है। आगे इस ॐकार के विचार का रूप बतलाएँगे जिससे उसका ज्ञान-स्वरूप पता लगता है।

ॐ से ध्यान और ज्ञान

ओंकार की उपासना पर विचार करते हुए उसे प्रतीक मान कर और फिर ओंकार के आलम्बन का तिरस्कार कर उसके ध्येय रूप का वर्णन किया। किसी आलम्बन को सामने रखना पड़ता है, किसी-न-किसी उपाधि के आधार पर ही ध्यान की संभावना है। ओंकार को किस दृष्टि से प्रधानता दी गई है इसको आगे के खण्ड में बतलाते हैं।

'पूर्वास्य मात्रा जागर्ति जागरितं द्वितीय स्वप्नं तृतीया सुषुप्तिश्चतुर्थी तुरीयम् ।'

ओंकार की पहली मात्रा है अ वह जाग्रत् को बतलाती है, दूसरी मात्रा है उ, वह स्वप्न को बतलाती है, तीसरी मात्रा है मकार, वह सुषुप्ति को बतलाती है और चौथी मात्रा है नादमात्र, वह तुरीय अवस्था को बतलाती है। इस प्रकार से अकार, उकार, मकार और इन तीनों रूपों में रहने वाला ओंकार वह किसी-न-किसी अपने प्रत्यक्ष अनुभव को आधारित कर अन्य चीज़ों से सम्बन्धित होता है। ध्यान के लिए तो उसके अंदर देवतारूप, दीनरूप, तारारूप, विष्णुरूप, ब्रह्मारूप, प्रकाश और महादेव रूप - ये सब बतलाए। अब इस ध्यान के विषय के अपरोक्ष रूप का प्रतिपादन करते हैं क्योंकि अपरोक्ष रूप हो कर यही ज्ञेय है।

ध्यान में किसी-न-किसी उपाधि का सहारा लेना पड़ता है। प्रश्न होता है कि क्या उपाधियाँ सब एक जैसी हैं? उपाधि सच्ची है नहीं, कल्पित है, और सब कल्पित चीज़ें एक जैसी होती हैं। किन्तु विचार करो: कल्पित चीज़ें एक जैसी होने पर भी कोई कल्पना सफल होती है, फल को उत्पन्न करती है, कोई कल्पना निष्फल होती है, फल को उत्पन्न करती नहीं।

गणित शास्त्र में भी रीति प्रचलित है किसी सवाल को हल करने के लिए उसमें एक संख्या को जोड़ देते हैं और अंत में वही घटा देते हैं तो वह सवाल सरलता से हल हो जाता है। सचमुच में उसमें तुमने, न जोड़ा न घटाया, लेकिन जुड़ गया की कल्पाा करने से सवाल आसानी से हल हो जाता है। मान लो 59 □ú0ê 7 से गुणा करना है। यदि जल्दी करना है तो 59 को 60 मान लो, 60 □ú0ê 7 से गुणा कर 420 की संख्या आएगी। तुमने 7 जोड़ दिए थे, जितने जोड़े हैं उतने ही घटा दो, तो 413 - यह उत्तर आ जायेगा। जोड़ना और घटाना दोनों काल्पनिक हैं, फिर एक ही क्यों जोड़ा? क्योंकि एक जोड़ने से सवाल आराम से हल हो गया। और कोई संख्या जोड़ोगे तो सवाल झट से हल होगा नहीं। इसी तरह अनेक समीकरण आदि में कल्पना करते हो और फिर कल्पना हटा देते हो तो सवाल हल हो जाता है। वहाँ दूसरी कल्पना करो तो सवाल हल नहीं होता ।

कहोगे कि गणित नहीं जानते; बहुत से लोग गणित से बहुत घबराते हैं; तो अन्य स्थल बतलाते हैं जहाँ कल्पित होने पर भी फल में भेद है: मान लो तुमको दूरी पर कोई चमकती चीज़ दीखी, तुमने उसको हीरा समझा। तुम उसके पास पहुँचे तो देखा कि हीरा तो काँच के अंदर पड़ा हुआ है। उस काँच के ऊपर तो किसी बत्ती की रोशनी पड़ रही थी । हीरा काँच के अंदर है उस पर रोशनी पड़ नहीं रही थी, इसलिए तुम्हें दूर से जो हीरा दीखा वह तो काँच पर पड़ने वाली रोश्नी थी,

हीरे की चमक नहीं थी, परंतु वहीं काँच के अंदर हीरा पड़ा हुआ होने से तुम्हें हीरा मिल गया। यद्यपि काँच की चमक में तुमको हीरे का भ्रम हुआ तथापि वहाँ जाने पर हीरा मिल गया। दीखा तो कल्पना का हीरा था, परंतु मिल गया सच्चा हीरा। अगर उस जगह काँच के अंदर हीरा नहीं होता, और भ्रम से तुम उसको हीरा समझ कर जाते तो तुमको हीरा मिलता नहीं। इस प्रकार तुमने जिसको हीरा समझा वह हीरा तो नहीं था परंतु वहाँ जाने पर हीरा मिल गया - इसी को कहते हैं संवादी भ्रम। दीखने वाली चीज़ है तो कल्पित परंतु जिसकी कल्पना है वह मिल जाये तो कल्पना को संवादी कहते हैं। अथवा तुमने दूर से देखा तो धुआँ, धुआँ दिखाई दिया। तुम वहाँ पहुँचे तो पता लगा कि वहाँ बटलोई में पानी उबल रहा है। तुमने जिसको धुआँ समझा वह धुआँ नहीं भाप थी। लेकिन धुआँ देख कर तुम पहुँचे किस लिए थे? इसलिए कि वहाँ आग ताप लेगें। पानी उबल रहा है अत: आग वहाँ मिल ही

गयी। भाप के अंदर धुएँ की तुमको कल्पना हुई परंतु वहाँ पहुचें तो आग मिल गई। जिसको तुमने धुआँ समझा था वह धुआँ नहीं था, भ्रम था, कल्पित था। परंतु वहाँ पहुँचे थे तुम आग के लिए, आग मिल गई अत: तुम्हारा भ्रम सवांदी हो गया। और अगर तुमने जिसको धुआँ समझा धूलि पटल था, धूल उड़ रही थी तो वहाँ पहुँचकर आग मिलेगी नहीं ऐसे भ्रम को विसवांदी कहते हैं। जो समझकर प्रवृत्त हुए वह जहाँ नहीं मिलता उस भ्रम को विसंवादी कहते हैं और जहाँ चीज़ मिल जाती है उसको संवादी कह देते हैं।

इसी प्रकार से मान लो कोई आदमी पाप कर लेता है। पाप की निवृत्ति के लिये गंगाजल से आचमन करना चाहता है। गंगा जल के आचमन से पाप की निवृत्ति शास्त्र में बतलाई है। वह बोतल से गंगाजल को लेता है यह समझकर कि 'मैं गंगाजल से पवित्र हो जाऊँगा, मेरा पाप निवृत्त हो जाएगा।' बाद में उस की घरवाली कहती है कि 'जी इस पर गंगाजल तो पहले का लिखा है, है तो यह नलके का पानी।' नलके का पानी पीने से तो कोई पाप की निवृत्ति होनी नहीं। तुमने समझा था पाप निवृत्त हो जाएगा इस पानी को पीने से, पर पाप निवृत्त नहीं हुआ। अत: विसंवाद का स्थल है। पर मान लो वह कहती है 'इसमें गंगाजल नहीं था, गोदावरी का जल था।' तो गोदावरी के जल से भी पाप की निवृत्ति बताई है। जिसको तुमने गंगाजल समझा था वह गंगाजल नहीं था, अत: था तो वह कल्पना, भ्रान्ति, पर

वह गोदावरी का जल है, वह भी पवित्र करने वाला है अत: तुम्हारा पाप तो हट ही गया, तब संवादी भ्रम का स्थल हो जाएगा।

जहाँ तुमने हीरा समझा था वहाँ प्रत्यक्ष रूप से समझा था। वहाँ भ्रम प्रत्यक्ष था परंतु जाने पर सफल हो गया वह प्रत्यक्ष भ्रम का दृष्टान्त है। प्रत्यक्ष में भी कल्पना कभी कभी सच्चेफल को दे देती है। जहाँ तुमको भाप की जगह धुआँ दिखाई दिया था वहाँ तुमको आग का ज्ञान अनुमान से हुआ था। दीखा तो तुमको धुआँ था, धुएँ के चिह्न से, अनुमान से जाना कि वहाँ आग है। वहाँ जाने पर तुमको आग मिल गई, वह आनुमानिक भ्रम का दृष्टान्त है। गंगाजल से शुद्धि होती है यह शास्त्र से पता चलता है। शास्त्र से ही पता चलता है कि गंगाजल से शुद्धि होती है। तुमने जिसको गंगाजल समझा था वह गंगाजल नहीं था इसलिए यह शास्त्रीय भ्रम का दृष्टान्त है। वह गोदावरी का जल निकल गया इसलिए वह भी संवादी हो गया क्योंकि गोदावरी के जल से भी पाप-निवृत्ति शास्त्र में बताई है। इस प्रकार से प्रत्यक्ष में भी संवादी हो जाता है, अनुमान में भी संवादी हो जाता है, शब्द में, शास्त्र में भी संवादी हो जाता है। कल्पना तो सब जगह एक जैसी है परंतु कहीं कल्पना सफल हो जाती है, कहीं सफल नहीं होती।

इसी प्रकार से उपासना के लिए ज्ञेय की वही उपाधि ली जाती है जो तुमको ज्ञान तक पहुँचा दे सफल हो जाये जो उपाधि तुम्हे ज्ञान तक नहीं पहुँचाती वह निष्फल हो जाती है। ओंकार की उपासना ज्ञान भी देती है, अन्य फल भी देती है। अन्य फलों के लिए तो अन्य उपासनाएँ हैं परंतु यदि तुम ज्ञान चाहते हो तो उसके लिए तो ओंकार की उपासना ही प्रधान है। जिसको ज्ञान नहीं चाहिए उसके लिए ओंकार की उपासना आवश्यक नहीं। उसे जो फल चाहिए वह ओंकार की उपासना से मिले यह ज़रूरी नहीं। किंतु जिस को ज्ञान चाहिए उसके लिए दूसरी उपासनाएँ सफल नहीं होंगी, ओंकार की उपासना अवश्य सफल होगी।

ज्ञान प्राप्त करने के लिए साहस चाहिए, ज्ञान के मार्ग में कमज़ोर लोगों का काम नहीं है, यह तो बड़े साहस का, बड़ी हिम्मत का काम है। कल आप लोगों को सुनार के लड़के की बात बतलाई थी। कितनी हिम्मत का काम उसने किया था ! ऐसा नहीं समझ लेना कि खाली लड़की के लिये ही उसने हिम्मत की थी। वह तो दृष्टान्त बतलाया था। वस्तुत: राजा की कन्या क्या है? परमात्मा-रूपी राजा की कन्या, परमात्मा से होने वाली ब्रह्माकार वृत्ति है। ब्रह्माकार वृत्ति बिन ब्रह्म के हो नहीं सकती जैसे घटाकार वृत्ति बिना घट के नहीं हो सकती, मठाकार वृत्ति बिना मठ के नहीं हो सकती। उस ब्रह्माकार वृत्ति को कौन प्राप्त करना चाहता है? सुनार का लड़का। सोना सबसे शुद्ध धातु माना गया है। पीतल के गिलास में पानी

पिओ तो उसे मिट्टी से साफ करने पर वह साफ माना जाता है, शुद्ध माना जाता। चाँदी के गिलास में पानी पिओ तो धोने मात्र से शुद्ध माना जाता है और सोने के गिलास में पिओ तो वह वायुमात्र से शुद्ध हो जाता है। इसी तरह तुम सूती कपड़ा पहन लो तो जल से धो कर शुद्ध होता है । परंतु यदि ऊन का कपड़ा पहना है तो उसे हवा लगा देने से वह शुद्ध हो जाता है। उसे शुद्ध करने के लिये पानी से धोना ज़रूरी नहीं । इसी प्रकार से जीव का मन सत्त्वगुण से बना है इसलिए मन स्वरूप से शुद्ध है परंतु सत्त्वगुण से बना होने पर भी, रात-दिन उसे अशुद्धि के कार्यों में लगाये रखने से उसका व्यावहारिक रूप अशुद्ध हो गया है। संस्कृत के एक शब्द के बारे में बताते हैं बुरा नहीं मानना कोई। सुनार को संस्कृत में कहते हैं 'पश्यतोहर'; तुम छाती पर बैठकर नज़र गाड़कर देखते रहो फिर भी वह सोना गायब कर लेगा ! तुम्हारे देखते हुए भी गायब कर देता है, हरण करलेता है इसलिये पश्यतोहर कहते हैं। वह रात-दिन व्यवहार कर रहा है स्वर्ण से, शुद्ध चीज़ से, पर उसके अंदर कार्यगत अशुद्धि है अर्थात् वह जो कार्य करता है वह अशुद्ध है। ठीक इसी प्रकार से मन शुद्ध होने पर भी हम रात-दिन उसको रजोगुण, तमोगुण के कार्यों में लगाते है अत: उसमें अशुद्धि आ जाती है। कारण की दृष्टि से उसमें अशुद्धि नहीं लेकिन कार्यों के प्रभाव से वह अशुद्ध हो गया है।

ऐसा कार्यगत अशुद्धिवाला मन ये चाहता है कि उसे ब्रह्माकार वृत्ति की प्राप्ति हो जाए। बड़ा दु:खी होता रहता है कहता है, कि किसी तरह ब्रह्मज्ञान होवे ब्रह्माकार वृत्ति बने।

जैसे उसे किसी बढ़ई ने कहा मैं तुझे विष्णु बना तो नहीं सकता हूँ, लेकिन विष्णु के जैसा रूप और वाहन दे देता हूँ। उनसे तू कल्पित विष्णु हो जाएगा। सचमुच में तो विष्णु नहीं होगा, कल्पित विष्णु हो जाएगा। विष्णु की तरह व्यवहार करते हुए विष्णुपुराण इत्यादि का अध्ययन करके सच्चे विष्णुरूप को अपने अंदर आरुढ़ करले। ठीक इसी प्रकार यहाँ भी अब तक जो प्रणव की उपासना बतलाई उसके अंदर अभी तुमने अपने अहम् रूपसे उसकी प्रतिष्ठा तो नहीं की परंतु सारे देवता, सारे वेद, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, प्रकाश इत्यादि की तुमने सर्वरूप से उपासना की है। जैसे उसके दो हाथ लकड़ी के लगा दिये झुठे-मुठे, जैसे उसको गरुड के आकार का उड़न खटोला वाहन के रूप में दे दिया, वैसे ही यहाँ ओंकार के अंदर सर्वरूप की भावना कर लेते हो। सर्वरूप की भावना करते हुए ब्रह्म का भाव तुम्हारी वासनाओं में, तुम्हारे अन्त:करण में वासित होता जाता है? नतीजा क्या होता है जब घोर आपत्ति का समय आया, आक्रमण हो गया था तब उस सुनार की वासना का प्रभाव प्रकट हुआ। इसी प्रकार उपासक पर जब घोर आपत्ति का समय आता है तब उपासना का प्रभाव सफल हो जाता है। मृत्यु संसार में घोर आपत्ति का काल है। मरणकाल आने पर मन सब चीज़ों से हट कर झट एकाग्र होता है। किस पर एकाग्र होगा? जिसकी वासना को दृढ़ कर रखा है उसी पर उस समय मन एकाग्र होगा। जन्म-भर जिस वासना को तुमने प्रबल बनाया है, आपत्ति का समय आने पर मन उधर ही जायेगा। इसलिये ॐ के उपासक को भी ओंकार की सर्वरूपता - वेद-देव-ब्रह्मा-विष्णु-प्रकाशादि-सर्वरूपता दृढ कर लेनी चाहिये तभी उसे उस समय अपने अहं के अंदर

होने वाला, प्रत्यगात्मा में होने वाला जो ब्रह्मरूप है वह मिल जायेगा। मृत्यु की विशेषता है कि उस समय सब कामनायें निवृत्त होने लगती हैं।

एक महाभोगी राजा जब बुड्ढा हुआ तो पहले रसायन आदि के सेवन से बल पाने की कोशिश करता रहा फिर जब रसायन कारगर नहीं रह गये तब महात्माओं के पास जाने लगा कि वे कोई जडी-बूटी दे देवें। कोई एक परमहंस महात्मा उधर से गुज़रे, उनके पास भी गया, उनको अपनी सारी बात बतलाई । महात्मा ने उसको एक गोली दी और कहा दूध के साथ पी लेना और उसके सामने उन्होंने चार गोलियाँ दूध के साथ पी लीं। उस दवाई के प्रभाव से उसके शरीर में विशेष शक्ति का संचार हुआ, उसको बड़ा अच्छा लगा। दूसरे दिन विचार करने लगा, एक गोली से मेरे अंदर इतनी शक्ति का संचार हुआ तो महात्मा ने चार गोलियाँ ली थीं, उन्हें अत्यधिक शक्ति मिली होगी ! अगले दिन महात्मा के पास गया तो महात्मा ने उससे पूछा दवाई ने ठीक काम किया? वह बोला बहुत बढ़िया दवाई रही, मुझे थोड़ी और गोलियाँ दे दीजिए। पर यह बताइए कि आपने चार गोलियाँ लीं, उसका क्या असर हुआ? उन्होंने कहा आज तो नहीं फिर बताऊँगा। लेकिन तेरे पास बस आज-आज का दिन है कल तू मर जाएगा। गोलियाँ भले ही दो ले जा। तुझे जो कुछ भी आनंद भोगना हो आज रात-भर में भोग लेना क्योंकि कल तू मर जायेगा।

उसने दो गोलियाँ तो ले लीं पर उसका जी घबरावे बार-बार मृत्यु सामने आवे, खाना-पीना-सोना-बैठना कुछ अच्छा न लगे, बार-बार मन में आवे अब तो तुझे मर जाना है। अगले दिन सवेरे फिर महात्मा के पास पहुँचा। महात्मा ने पूछा क्यों भाई, दवाई का अच्छी तरह से फायदा उठा लिया? उसने कहा जी कुछ नहीं, मरने के डर से मेरी हालत और ज़्यादा खराब हो गई। महात्मा बोले यह तेरे प्रश्न का जवाब है। तुझे तो मैंने कहा था कि *रात भर* के बाद मृत्यु है, इतना जानते ही तेरा यह हाल हो गया। मेरा निश्चय है कि अगले ही *क्षण* मेरी मृत्यु हो सकती है। इसलिए मेरी कभी किसी भोग में प्रवृत्ति होती ही नहीं, सदा आत्मचिन्तन ही चलता है।

अगले क्षण साँस आएगा कि नहीं इसका कोई भरोसा नहीं। शास्त्रकार कहते हैं कि साँस बाहर जाने के बाद कोई विश्वास नहीं है कि वापस आएगा। इसलिए जिस समय साँस छोड़ो उस समय विचार करो कि यह मरने का क्षण है। ये किस के काम की साधना है? जो ज्ञान चाहता है। जिसे परमार्थ तत्त्व का सही ज्ञान नहीं चाहिये वह तो कहेगा महाराज ! आप सारा मज़ा ही किरकिरा कर देंगे संसार का जैसे उस राजा का मज़ा किरकिरा कर दिया उस महात्मा ने मृत्यु की बात सुना कर यदि संसार का मज़ा चाहते हो, उसे किरकिरा नहीं होने देना चाहते, तब तो ये ओंकार की उपासना तुम्हारे काम की नहीं। परंतु यदि इस मजे को किरकिरा करने की चिन्ता नहीं है, उस परम आनन्द की चिन्ता है जो तुम्हारा स्वरूप है, तब

यह उपासना काम करेगी । विचार करो, राजा चाहे जितना भोगी था, जब मृत्यु सामने दीखने लगी तब सारी कामनाएँ, सारी भोग इच्छाएँ निवृत्त हो गईं।

ठीक इसी प्रकार उस सुनार के लड़के के ऊपर जब भयंकर आपत्ति, मृत्युरूप आपत्ति आई, तब परिस्थिति बनी कि अब सबको पता लग जाएगा कि वह विष्णु नहीं है; मृत्यु जैसी स्थिति हो गई थी। उस भयंकर आपत्ति के आने पर उसकी वृत्ति सर्वथा विष्णु के साथ एक हो गई। विष्णु के स्वरूप का उसने पहले ही ध्यान कर रखा था, उसकी वासना से वह सम्पन्न हो गया था। तब उस काल में सचमुच के विष्णु वहाँ आ गए। इसी प्रकार जिस ब्रह्मरूप का हम ओंकार के द्वारा ध्यान कर रहे हैं, जिस समय अन्त:करण सारे दोषों से रहित हो जाएगा उस समय उसी स्वरूप वाले परमात्मा हमारे अंदर प्रकट हो जाएँगें। वह ज्ञेय ब्रह्म है; जब तक हम उपाधि का सहारा लेकर उपासना कर रहे हैं तब तक ध्येय ब्रह्म है।

इस ज्ञेय ब्रह्म का स्वरूप बतलाते हुए इस प्रत्यक्ष स्थूल को कहते हैं: जीव का प्रत्यक्ष रूप कहाँ साक्षात् होता है? जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति में। भगवान् भाष्यकार इन तीनों को बड़ा भारी जंगल बतलाते हैं। गहन विपिने गाहमानोऽप्यगाध: ये बड़ा भारी विपिन है अर्थात् जंगल है, इसके अंदर हम निरंतर डूब रहे हैं परंतु कभी भी इसका अंत नहीं आता। परमेश्वर की सृष्टि की विशेषता यह है कि यह गोल-गोल चलती है ! परमेश्वर ने ऐसी सृष्टि का निर्माण

किया कि इसको चलाने के लिये बार-बार उनको हस्तक्षेप न करना पडे। कुछ साल पहले एक घड़ी आती थी, ऑटोमैटिक वॉच, उसको हाथ में बाँध लो, अब तुम्हारा हाथ इधर-उधर होगा ही और अपने आप उसमें चाबी भरती जाएगी। न तुमको बैठ कर उसमें चाबी भरनी है और न तुमको उसमें दस रूपया का बैटरी का सैल ही डालना है। हाथ हिलेगा ही, उसमें चाबी भर जाएगी। इसी प्रकार परमात्मा ने सृष्टि ऐसी बनाई है कि उसको बार-बार इसमें हस्तक्षेप नहीं करना पड़ता। तुमने अनाज का बीज डाला, खाद डाली, अनाज पैदा हो गया। अनाज खाया-पिया फिर खादरूप में परिणत हो गया, उससे फिर गेहूँ पैदा हो गए उनमें से एक बीज़ पड़ा, उसमें से फिर गेहूँ पैदा हो गया। समुद्र से बादल बन कर जल उठा, पहाड़ पर जा कर बरसा नदी के द्वारा वह जल बहता हुआ फिर समुद्र में पहुँच गया। बीच में उस पानी ने अनेक काम किए, बीच में उस अन्न ने अनेक काम किए, तुम्हारे शरीर में चला गया, उसके रस से तुम्हारा रक्त बना, मांस बना, वह सब कुछ उस अन्न ने किया, पर अन्त में जाकर वह फिर मिट्टीरूप ही हो गया। इस प्रकार से परमेश्वर की सारी सृष्टि ऐसी है कि गोल-गोल अपनी सामर्थ्य से खुद घूमती है।

हम लोग भी ऐसे ही घूमते हैं, आचार्य शकंर कहते हैं :

कर्माणि देहयोगार्थं देह योगे प्रियाप्रिये।

ध्रुवे स्यातां ततो रागो द्वेषश्चैव तत: क्रिया।।
धर्माधर्मौ ततो ऽज्ञस्य देहयोगस्तथा पुन:।
स्वं नित्यप्रवृत्तोऽयं संसारश्चक्रवद् भ्रशम्।।

हमने कर्म किए, उन कर्मों से हमें शरीर मिला। शरीर मिला तो चीज़ें प्रिय और अप्रिय लगती हैं, शरीर मिलने पर ही प्रिय या अप्रिय है। सर्दी किसको लगेगी? शरीर को। भूख प्यास कब तक है? जब तक शरीर है। जो चीज़ अच्छी लगेगी उसकी तरफ जाएँगें, राग होगा। जो चीज़ अप्रिय लगेगी उससे दूर जाएँगें, द्वेष होगा। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति होने से किसी चीज़ के पास जाएँगें किसी से दूर हटेंगे, इसके द्वारा फिर कर्म हो जाएँगें, जो अगला शरीर देने में कारण बन जाएँगें, यों गोल-गोल घूमते रहोगे। परमेश्वर को बीच में आकर कोई हस्तक्षेप नहीं करना पड़ता, यह चक्र अपने आप चलता रहता है। यह परमेश्वर की सृष्टि की विशेषता है कि यह अपने आप अपनी गति से घूमती रहती है। इस चक्रमय गति के कारण से ही यह अगाध है, कभी समाप्त नहीं होता। यदि एक तरफ चलता तो समाप्त हो जाता, किंतु चूँकि गोल- गोल चल रहा है इसलिए कभी ख़त्म होता नहीं, अगाध है। लोग सोचते हैं कि ऐसा होते-होते कभी संसार निवृत्त हो जाएगा पर कभी भी निवृत्त नहीं होना है क्योंकि कभी भी शुरू नहीं हुआ ! ज्ञान के द्वारा तुम इससे हट सकते हो। यह सोचो

कि संसार चलते चलते ख़त्म हो जाएगा तो व्यर्थ है क्योंकि ख़त्म होना नहीं है गोल-गोल चलता रहेगा ।

यहाँ बतला रहे हैं हम लोगों का प्रत्यगात्मा का गोल-गोल चलना हम लोग कभी जाग्रत् अवस्था में हैं, जाग्रत् से स्वप्न अवस्था में चले जाते हैं, स्वप्न से सुषुप्ति में चले जाते हैं, और सुषुप्ति से फिर जाग्रत् या स्वप्न में आ जाते हैं, इस प्रकार इसके अंदर गोल-गोल घूमते रहते हैं। इसी गोलाई को बतलाने के लिए हम ॐ को भी गोलों के द्वारा ही लिखते हैं। इसी गोलाई को बतलाने के लिए शिवलिंग भी गोल आकार का ही होता है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में हम निरतंर घूम रहे हैं इस घूमने के प्रकार को आगे उपनिषद् बतलायेगी। अभी बतलाया कि उपाधि को लेकर ओंकार ध्येय ब्रह्म है मन जब शुद्ध हो जाता है तब वही ओंकार ब्रह्म का ज्ञान देने में समर्थ है।

आत्ममणि

ओंकार के ध्येय रूप का वर्णन करने के बाद उसके ज्ञेयरूप का विचार प्रारंभ किया। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति औार तुरीय का अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा के साथ तादातम्य बताया । उपनिषद् आगे कहती है

"मात्रा मात्रा: प्रतिमात्रा गता: सम्यक् समस्तानपि पादान् जयतीति स्वयंप्रकाश: स्वयं ब्रह्म भवति इत्येष सिद्धिकर एतस्माद् ध्यानादौ प्रयुज्यते। सर्वकरणोपसंहारत्वाद् धार्यधारणाद् ब्रह्म तुरीयम्।।"

अकार, उकार, मकार, अर्धमात्रा - ये प्रत्येक जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के साथ एक हैं यह पहले समझ आता है। जैसे शब्द में मात्रा होती है उसी प्रकार से जीव के पाद हैं। पाद का पहले भी तात्पर्य बतलाया था कि जिससे ज्ञान होवे। गाँवों में कोई चोर कच्ची सड़क पर भागता है तो उसके पैरों की छाप रह जाती है जिसे देखते हुए, छाप के साथ चलते हुए अन्ततोगत्वा चोर पकड़ लिया जाता है।

इसके लिए प्रसिद्ध दृष्टान्त है भगवान् श्रीकृष्ण का। घटना तब की है जब द्वारिका के अंदर भगवान् रहते थे। उनके कुल का एक सत्रवीरजित् था। उसने सूर्य की उपासना करके

एक दिव्य मणि प्राप्त की थी जो सूर्य की कृपा से प्राप्त हुई और सूर्य की ही तरह अत्यंत चमकवाली थी। उसको स्यमन्तक मणि कहते थे। कुछ लोगों का कहना है कि वह स्यमन्तक मणि ही कोहेनूर है। वह मणि को पहन कर आया तो भगवान ने उसको समझाया कि 'यह मणि जिसके पास रहती है, जो इसको धारण करता है उसको नुकसान करती है।' कोहेनूर का प्रभाव देखा ही गया है कि जिस-जिस के पास गया उस-उस का राज्य भी गया ! चाहे इस को मानकर अथवा न मान कर, जब यह अंग्रेज़ों के पास गया उन्होंने इसके दो टुकड़े कर दिए। इसलिये भगवान् ने राय दी 'इस तरह इस को पहन कर घूम मत, इस को राज्य की तिजोरी में बन्द करा दे। चीज़ तुम्हारी रहेगी तुम जब चाहो इसे ले लेना।' परंतु बात सत्रवीरजित् की समझ में आई नहीं, लोगों से कहने लगा 'देखो, कृष्ण के पास इतनी चीज़ें होने पर भी इसका लोभ ख़त्म नहीं हुआ ! मेरे को एक मणि मिली है उसको भी दबा लेना चाहता है।' उसने नहीं दी। भगवान् ने उसकी मर्ज़ी पर छोड़ दिया। थोड़े दिनों के बाद उसका पुत्र सात्राजिति मणि पहन कर जंगल में गया हुआ था, वापस आया नहीं। जब तीन चार दिनों तक नहीं आया तब लोगों ने पता लगाने का प्रयत्न किया। वह एक जगह मरा हुआ मिला। लोगों की जैसी आदत है, बातें बनाने लगे, कहने लगे 'हो न हो, कृष्ण के मन में इस मणि की इच्छा थी इसलिए कृष्ण ने ही इसको मार दिया या मरवा दिया और मणि ले ली।'

बात चलती है तो चलते-चलते उस आदमी को भी सुनाई दे ही जाती है। श्री कृष्ण ने भी सुना, उन्होंने विचार किया कि कलंक को धोना ही ठीक है। इसलिए जहाँ सात्राजिति मरा हुआ पाया गया था वहाँ गए, उन्होंने ध्यान दे कर देखा तो वहाँ किसी शेर के पैर के निशान बने हुए थे जो दूर जा रहे थे। पैरों की छाप देख कर उन्होंने समझ लिया कि हो सकता है शेर ने मारा हो। पैरों को देख कर ही शेर का सुराग मिला, शेर के पैर तो वहाँ थे नहीं, पैर के चिह्न थे, उन्हीं को ऐसे प्रसंग में पैर कहा जाता है। परंतु जब शेर को पाया तो वह भी मरा हुआ मिला। मणि भी वहाँ नहीं थी। भगवान् कुछ लोगों को अपने साथ ले गए थे। फिर चारों तरफ ध्यान से देखा तो एक भालू के पैर आगे गए हुए दीख रहे थे, पैर मायने पैर के चिह्न। उस चिह्न को देखकर भगवान् फिर चले। वे पैर एक गुफा में गए हुए थे। अंधेरी गुफा थी, अंधेरी गुफा के अंदर भगवान् जाने लगे, थोड़ी दूर तो जो साथ में थे वे भी गए, फिर सब को डर लगा, कहने लगे 'हम लोग आगे नहीं जाएँगे' भगवान् ने कहा कि 'ऐसा करो, तुम लोग गुफ़ा के बाहर दरवाजे पर खड़े रहो, गुफ़ा के मुँह पर। मैं पता लगा कर वापस आऊँ तब तक तुम वहीं खड़े रहना।'

श्रीकृष्ण अंदर जाते-जाते जब काफी दूर चले गए तब उनको प्रकाश नज़र आया। वहाँ पहुँचे तो देखते हैं एक लड़की उस स्यमन्तक मणि से खेल रही है जो उसके झूले पर लटक रही है। सोच ही रहे थे कि क्या करें और क्या न करें, तभी एक ज़बरदस्त भालू आया

और श्रीकृष्ण से लड़ पड़ा, दोनों में भयंकर युद्ध हुआ। श्रीकृष्ण के शरीर से खून की धारा निकली और उस भालू के शरीर से भी खून की धारा निकली, वह खून की धारा बहती हुई गुफा के मुँह पर आई। जो वहाँ खड़े हुए थे वे कहने लगे 'लगता है किसी ने श्रीकृष्ण को मार दिया ! हमें यहाँ से भाग जाना चाहिये नहीं तो निकलकर हमें भी मारेगा । गुफ़ा के मुँह पर थोड़े पत्थर रख दें ताकि वह जल्दी बाहर न आवे।' उन्होंने द्वारका आकर कह दिया कि कृष्ण मारे गए। उधर, जब कृष्ण से लड़ाई ख़त्म ही होने को न आयी तब वह भालू विचार करने लगा कि 'यह कौन है जो मुझ से इतना जबरदस्त युद्ध कर रहा है?' उसने जैसे ही ध्यान करके देखा उसे पता लगा कि 'ये तो मेरे इष्ट देव हैं !' वह कोई सामान्य भालू नहीं, जाम्बवान् था। उसने पहचान लिया कि जो राम थे वे ही कृष्णरूप में आए हुए हैं। प्रार्थना करने लगा 'मुझ से बड़ी भूल हो गई, क्षमा कर दीजिए।' भगवान् ने कहा 'बिना जाने किया तो इसमें कोई बात नहीं।' उसने भगवान् को मणि भी दे दी और लड़की भी दे दी। भगवान् बाहर आए तो गुफ़ा के मुँह पर पत्थर थे उन्हें हटा कर बाहर निकले तो वहाँ कोई नहीं था । कृष्ण वापस द्वारका पहुँचे तो सब हैरान थे, वहाँ तो बात फैल गई थी कि वे ख़त्म हो गए हैं। सत्रवीरजित् को बुला कर भगवान् ने कहा 'यह अपनी मणि लो, आगे संभाल के रखना, मेरा कलंक हटाओ। परंतु रखोगे तो यह तुम्हारे नुकसान का कारण

होगी।' अब तो वह भी समझ गया था। भगवान् ने इस प्रकार से पैरों को देख कर ही यह सारी लीला की।

ठीक इसी प्रकार हम लोग भी आत्ममणि का पैरों से पता लगाते हैं जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति - ये इसके पैर हैं, इनका विचार करने से ही यह मणि मिलती है। सूर्य की कृपा से सत्रवीरजित् को मणि तो मिली, परंतु वह मणि तब तक पूर्णत: सुरक्षित नहीं रह सकती जब तक राज्यकोष में न रख दी जाए। इसी प्रकार हम लोगों को निर्विकल्प समाधि में आत्मा की मणि तो मिलती है, महर्षि पतंजलि कहते हैं कि निर्विकल्प समाधि जिस समय होती है उस समय स्वरूप की प्राप्ति होती है। परंतु जब तक निर्विकल्प समाधि है तब तक ही प्राप्ति है। वहाँ से जैसे ही विक्षेप हुआ, फिर जगत् वैसे का वैसा रहता है क्योंकि सर्वदा उसकी प्राप्ति नहीं है। जब तक परमात्मा का स्पष्ट ज्ञान न हो जाए तब तक वह जो अनुभव समाधि में हुआ है वह सुरक्षित रहता नहीं, अर्थात् व्यवहार के समय फिर हाथ से निकल जाता है। परंतु शुरू में यह बात समझ में आती नहीं। सत्रवीरजित् का पुत्र सात्राजिति उसे पहन कर घूमने जाता है और शेर के द्वारा मारा जाता है। जैसे सत्रवीरजित् का पुत्र घूमने गया वैसे ही हम व्यवहार काल के अंदर जाते हैं। कल भी बतलाया था, यह ससांर क्या है? गहन विपिन, घोर जंगल है। जैसे जंगल के अंदर बाघ, भालू, बंदर इत्यादि रहते हैं वैसे ही यहाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि जंगली जानवर रहते हैं। अब सत्रवीरजित् का पुत्र सात्राजिति उस

मणि को लेकर व्यवहार रूप में जाता है तो जैसे शेर ने उस मणि को हर लिया, उसका हरण कर लिया, उसी प्रकार से ज्ञानमणि का हरण हो जाता है। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है 'ज्ञानरत्नापहारिण:' काम, क्रोधादि विकार ज्ञानरूपी रत्न जिसको हमने समाधि में प्राप्त किया उसको चुरा लेते हैं। वे उसका हरण न कर सकें इसके लिए जग जाओ, जग जाओ अर्थात् जिसको ध्यान में प्राप्त किया है उसको दृढ़तापूर्वक पकड़ने के लिए ज्ञान प्राप्त करो। जगने का मतलब होता है कि जो चीज़ तुमको केवल अपनी वासनामात्र से दीख रही है उसकी जगह जो वास्तविकता है उसको देख लो।

दृष्टान्त में पहले शेर फिर भालू मिला, दोनों के अलग-अलग पैर थे। दृष्टान्त में भी अलग-अलग पैर हैं: जाग्रत् के अंदर हमें सारे पदार्थ मिलते हैं और उनके साथ ही हमारे अंदर की कल्पनाएँ भी जुड़ती हैं। इस भेद को महर्षि वशिष्ठ बताते हैं एक स्त्री-शरीर वह स्त्री गोरी है, पाँच फुट चार इंच की है, साठ किलो वज़न की है। सभी देखने वालों को वह साठ किलो की ही दीखेगी, गोरी ही दीखेगी, जैसी है वैसी ही दीखेगी। चीज़ जैसी है वैसी दीखेगी पदार्थ जैसा है वैसा सबको दीखेगा। इस में कोई मतभेद नहीं। अब मतभेद की बात बताते हैं: वहाँ एक लड़का खड़ा है उसको दीख रही है कि 'यह मेरी माँ है'। एक जवान खड़ा है, उसको दीख रहा है यह मेरी पत्नी है'। एक बुड्ढा खड़ा है, उसको दीख रही है

'मेरी बेटी है'। बेटी कभी माँ नहीं हो सकती, माँ कभी बेटी नहीं हो सकती, पती कभी बेटी नहीं हो सकती। यहाँ बेटी-पत्नी-माँ ये तो एक-एक को दिख रहे हैं - पर इन तीनों को वह साठ किलो की ही दीख रही है पाँच फुट चार इंच की ही दीख रही है। इसमें तो कोई मतभेद नहीं। परंतु माँ है बेटी है या पत्नी है इसमें अपनी-अपनी दृष्टि से मतभेद है। अब वहाँ कुछ औरतें हों तो किसी को ननद दीखेगी, किसी को देवरानी और किसी को जेठानी दीखेगी। देवरानी जेठानी नहीं हो सकती, जेठानी देवरानी नहीं हो सकती परंतु एक को जेठानी दीख रही हैं दूसरी को देवरानी दीख रही है, तीसरी को ननद दीख रही है। वहीं एक कामुक व्यक्ति खड़ा है, स्त्री बड़ी सुंदर है, उसको लग रहा है 'इसका भोग किया जाए तो बड़ा अच्छा हो।' उन लोगों को रिश्ते दीख रहे हैं और इसे केवल 'इसका सेवन कैसे किया जाए' यह दीख रहा है। वहीं एक कुत्ता खड़ा देख रहा है कि इसकी पिण्डली खाई जाए तो बड़ा मज़ा आवे। कामुक भोग की सोच रहा है और कुत्ता भी भोग की सोच रहा है परंतु दोनों की दृष्टि अलग-अलग है। वहीं कोई ब्रह्मचारी साधक खड़ा है, वह समझता है 'यहाँ से दूर हटूँ, यह कहीं मेरे वैराग्य को कमज़ोर न कर देवे', इसलिए उपेक्षा कर वहाँ से जाना चाहता है, हटना चाहता है। पाँच फुट चार इंच, गोरापना और साठ किलो वजन सब को दीख रहा है, इन तीनों को और साधक को भी दीख रहा है। जो एक-एक को दीख रहा है वह तो एक-एक की अपनी कल्पना है। वह उनको अपने-अपने मन से दीख रहा है,

परंतु पाँच फुट चार इंच की, साठ किलो वजन की गोरी औरत सब को एक जैसी दीख रही है।

जाग्रत् के अंदर कुछ चीज़ तो हमें वैसी दीखती है जैसी वह है, उसको बनाने वाले हम नहीं हैं और कुछ चीज़ें दीख रही हैं जिनको हम अपने मन से बना कर देखते हैं। साथ में तीसरी चीज़ एक और है - घ्मैं साढ़े तीन हाथ के ख़ाक के पुतले में बैठा हुआ सर्वव्यापक परमात्मा नहीं हूँ ङ। जाग्रत् अवस्था के अंदर हमारा अनुभव क्या है? साढ़े तीन हाथ के पुतले के अंदर बैठा हुआ हूँ, कोई संशय नहीं है ! क्योंकि यदि अपने को व्यापक समझें तो कहीं जाने-आने का संकल्प तक नहीं हो सकता। तुम व्यापक हो, सब जगह हो तो कहीं जा कैसे सकते हो? इसलिए जाग्रत् अवस्था में इस शरीर के अंदर हम बैठे हुए हैं। यह अनुभव बना रहता है। जाग्रत् का लक्षण करते हुए इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि इन्द्रियों के द्वारा जहाँ विषयों का ग्रहण होता है उसका नाम जाग्रत् अवस्था है। इन्द्रियाँ शरीर में रह कर ही व्यवहार करती हैं, तभी जाग्रत् अवस्था होती है। शरीर में होंगे तभी इन्द्रियों के साथ संबंध हो कर विषयों को देखेंगे। इस प्रकार जाग्रत् में तीन बातें मिलती हैं - एक तो बाहर विषय हैं। दूसरी बात, हम अपने मन की वासना से विषयों के ऊपर कुछ और चढ़ा कर देखते हैं। तीसरी, हम इस बात को जानते हैं कि हम इस शरीर में रहते हैं, व्यापक ब्रह्म नहीं हैं। यह जाग्रत् अवस्था है।

अगर जाग्रत् अवस्था ही भगवान् ने हमारे लिए बनाई होती तो इसी को जानते, आगे संदेह की ही बात नहीं होती। लेकिन भगवान् ने अन्य भी अवस्थाएँ देकर विचार का द्वार खुला रखा है। भूमि-सीमा नियंत्रण के कानून में कोई व्यक्ति इतनी ही भूमि रख सकता है, ऐसा कानून बनने वाला था। हमारे एक परिचित बगांली सज्जन कलकत्ते में हैं वे सुना रहे थे: उनके पास काफी ज़मीन थी, चिंता का विषय था कि ज़मीन कैसे बचावें ? उनके ठीक सामने बिरला जी के जनरल मैनेजर रहते हैं, सोचा इनको ज़रूर पता होगा, इनसे पूछें, ये मारवाड़ी लोग बड़े कुशल होते हैं। आमने- सामने मकान हों तो जान-पहचान होती ही है। उन्होंने उनसे पूछा कि भाई यह कानून आ रहा है, आपकी तो बहुत ज़मीनें हैं, हमारी क्या है उसके सामन ! आपने ज़मीन बचाने का कुछ तो तरीका सोचा ही होगा, आप हमें बता दें तो हम भी बचा लेवें। वे कहने लगे अभी तो नहीं, कानून बन जाने दा, फिर इसको बचाने की बात हम तुम को बता देंगे। बगांली ने सोचा कि टाल रहे होंगे, कहने लगा अरे बता दो, जब कानून बन जाएगा तब क्या हो सकता है ! मारवाड़ी बोला कानून बनने के बाद ही बताएगें । पूछा क्यों? तो वह बोला संसद में हमारे आदमी होते हैं अफसरों में भी हमारे आदमी होते हैं। जब कानून बनता है तभी उसमें ऐसे ही पाँच-छह रास्ते छोड़ दिए जाते हैं जिससे उस कानून के खिलाफ काम किया जा सकता है। जब मजमून संसद में जाता है तब कोई एक-दो कमज़ोरी ऐसी होती है जो किसी को पता चल जाती है, कोई सांसद कह देता है कि उसमें ऐसे नहीं

ऐसा होना चाहिए तो वह रास्ता बन्द हो जाता है। फिर भी पाँच-छह में से दो-तीन रास्ते बच ही जाते हैं। कानून पास होने के बाद ही पता चलेगा कि कौन-कौन से रास्ते बचेंगें उनके अनुसार अपना बचाव कर लेंगे, आप को भी बता देंगे।ङ

जैसे कानून बनाते समय ही बचाव का रास्ता रहता है, उसी प्रकार परमेश्वर ने सृष्टि की और इस सृष्टि से बचने के लिए परमेश्वर ने ही बचाव के रास्ते छोड़ दिए ! जो जानकार होगा समझदार होगा, वह उस रास्ते से बच जाएगा। अधिकतर लोगों को तो पता ही नहीं है कि कानून में बचने वाली बात कौन-सी है इसलिए वे कानून की पकड़ में आ जाते हैं। इसी प्रकार यदि परमेश्वर ने एक जाग्रत् अवस्था ही बनाई होती तो आगे कुछ सोचने का मौका ही नहीं था। मन में प्रश्न ही नहीं आता, संदेह ही नहीं आता कि दृश्य संसार सत्य है या नहीं, इसे सच मानकर ही, लोग चलते रहते। परमेश्वर ने यह सृष्टि लोगेां को बंधन में रखने के *उद्देश्य* से नहीं बनाई। परमेश्वर ने यह सृष्टि बनाई कि जीव जीवन्-मुक्ति के सुख को लेवे। अगर केवल जाग्रत् अवस्था बनाते तो ये काम होता ही नहीं अत: उन्होंने दूसरी अवस्था बनाई स्वप्न। स्वप्न अवस्था में भी ससांर ऐसा ही दीखता है जैसा यहाँ दीखता है। ऐसे ही लोग बैठे दीखते हैं, ऐसे ही लोग सवाल पूछते हैं, ऐसे ही जवाब होते हैं, सब ऐसा ही दीखता है। परंतु वहाँ जो दीखता है वह है नहीं। वहाँ जो दीखता है वह केवल तुम्हारे मन की वासनाओं से दीखता है, वहाँ वैसी कोई चीज़ नहीं है। जाग्रत् में दीखता है, वहाँ चीज़ें हैं और

वासनाएँ भी हैं, स्वप्न में तुम्हारी वासनाएँ तो हैं पर चीज़ें नहीं है भले ही सब ऐसा ही दीखता हो। स्वानुभव के आधार पर ही विचार प्रवृत्त होता है कि स्वप्न के पदार्थ दीखते हैं और नहीं हैं, कहीं ऐसा तो नहीं है कि जाग्रत् के पदार्थ भी दीखते हैं पर नहीं हैं? यह सदेंह उठता है। विचार करने में प्रवृत्ति होती है कि सच्चाई क्या है। क्या सचमुच जैसा दीखता है वैसा संसार है, अथवा संसार सच्चा नहीं है?

यह भी संभावना हो सकती थी कि जाग्रत् व स्वप्न अवस्थाएँ अलग हैं, जाग्रत् में सच्ची ही चीज़ें दीखती हैं, सपने में झूठी चीज़ें दीखती हैं, सपने के अनुभव से जाग्रत् सन्दिग्ध नहीं हो सकता। किन्तु भगवान् ने पहले ही सोच लिया कि यह शंका कोई करेगा । जैसे उत्तरी गोल में इस समय सर्दी पड़ रही है और दक्षिणा गोल में गरमी पड़ रही है। वैसे ही जाग्रत् एक गोल हो गया, स्वप्न दूसरा गोल हो गया। इस शंका को दूर करने के लिये भगवान् ने जाग्रत् के अंदर कुछ ऐसी चीज़ें रख दीं जो हैं नहीं और दीखती हैं। शाम के समय में हल्का अंधेरा हो और तुम्हें कहीं साँप दीख जाये, तुम्हारे हाथ में टार्च, अलाती हो तुम इ-ाट-से जला कर साँप पर रोशनी डालो और वह रस्सी निकले। तब तुम क्या समझ लेते हो? साँप दीखा तो था पर था नहीं, बिना हुए ही दीख गया था। जाग्रत् में भी बिना हुए चीज़ दीख सकती है। ऐसे अनेक अनुभव होते हैं। इस प्रकार ये दो पाद हुए -जाग्रत् और स्वप्न। इन दो पादों को देखने से दृश्यवर्ग के मिथ्यात्व की संभावना हो जाती है। जैसे पहले घोड़े

के पैर देखकर जहाँ सात्राजिति मरा था वहाँ पहुँचे फिर वहाँ से शेर के पैरों के सहारे गुफा में गए, ऐसे ही जाग्रत् का विचार करते हुए आदमी जब स्वप्न के साथ उसका मिलान कर विचार करता है और जाग्रत् में होने वाली रज्जुसर्प आदि असत्य चीज़ों को देखता है तब पता लगता है कि यहाँ के पदार्थ भी वास्तविक नहीं हैं। दोनों में कुछ फ़र्क है परंतु यह कह रहे हैं कि जैसे वहाँ के पदार्थ मिथ्या हैं, हमेशा के लिए नहीं हैं वैसे ही यहाँ के पदार्थ भी मिथ्या हैं हमेशा के लिए नहीं हैं।

हमेशा के लिए स्वप्न के पदार्थ नहीं हैं क्योंकि जगने पर नहीं हैं। हमेशा के लिए जाग्रत् के पदार्थ भी नहीं हैं: किसी ने भोजन का निमन्त्रण दिया, बढ़िया खीर मालपुआ बना, खूब खाया। पेट भरने के बाद मेज़बान कहता है 'मेरे हाथ से तो एक ले ही लीजिए', उसका मन रखने को थोड़ा और खा लिया। तब उसकी पत्नी आ जाती है, 'मेरे हाथ से तो लेना ही पड़ेगा । यह साल औरतों की आजादी का है, पति के हाथ से ले लिया, मेरे हाथ से नहीं लेंगे यह क्या बात है ! बराबरी का ज़माना है।' अब मालपुआ गले तक आकर सो गए। पेट कैसा है? ठस भरा हुआ है, भूख का नाम निशान नहीं। स्वप्न आया: मद्रास जा रहे हैं रेल में बैठ कर। रेल में भोजन ले कर के बैठना था, जल्दबाज़ी में भोजन घर पर ही छूट गया। स्टेशन पर देखते हैं तो पूड़ी आलु का नाम नहीं, जो चीज़ें वहाँ बनती हैं उनमें प्याज लहसुन इतना पड़ा हुआ है कि खा नहीं सकते। यात्रा भी पूरी तीन दिन की है, भूख लगी है बड़ी

तेज़, भूख के मारे जी घबरा रहा है, कुछ खाने को नहीं है। विचार करो; जाग्रत् के खीर मालपूए पेट में पड़े हुए हैं वे स्वप्न की भूख को मिटा रहे हैं क्या ? जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न में काम नहीं आते और स्वप्न के पदार्थ जाग्रत् में काम नहीं आते यह तो आप सब जानते ही हो। इसलिए जाग्रत् के पदार्थ भी सब समय काम आते हों ऐसा नहीं, और स्वप्न के पदार्थ भी स्वप्न-काल में तो काम दे ही देते हैं। अत: जाग्रत् और स्वप्न दोनों के पदार्थों में हमेशा रहनापना नहीं है। स्वप्न के पदार्थ जाग्रत् के काम के नहीं, जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न के काम के नहीं। अत: दोनों एक जैसे वास्तविक नहीं हैं। स्वप्न में जो तुमको सारा ससांर दीखता है जो सड़क, मोटर, बस आदि सब दीख रहा है, वह सब तुम ही बनाने वाले हो, अपने ही संस्कारों से बनाते हो, कहीं दूसरी जगह से तो ईंट नहीं लाते ! किसी सीमेंट फैक्टरी से तो वहाँ सीमेन्ट ले कर नहीं जाना पड़ता। टाटा टोर का लोहा लेकर तो तुम्हें छत नहीं डालनी पड़ती। जो कुछ वहाँ है वह सब तुम और तुम्हारे संस्कार हैं। वहाँ जो पचास आदमी बैठे दीख रहे हैं वे सब तुम्हार सिवाय कोई नहीं हैं। फिर भी तुमको प्रतीति क्या होती है? वहाँ भी तुम्हारे जैसा एक शरीर है, वहाँ भी तुमको लगता है यह शरीर मैं हूँ और ये शरीर दूसरे हैं। विचार की बात है, ठीक से समझना। स्वप्न में भी अपना एक शरीर दीखता है कि 'यह मैं हूँ' और दूसरे सब दीखते हैं कि 'ये दूसरे हैं।' जागने पर पता चल जाता है कि वहाँ मेरे सिवाय कोई नहीं था परंतु वहाँ तो पता नहीं चल रहा था, एक शरीर अपना दीख रहा था और दूसरे शरीर दूसरे दीख रहे थे। अत: वहाँ भी यह पता नहीं चलता कि इनमें व्यापक

सर्वरूप मैं हूँ। सर्वरूपता वहाँ है - यह जगने पर पता लगता है, लेकिन वहाँ अपनी सर्वरूपता का पता नहीं है, पता तो वहाँ भी यही है कि 'मैं साढ़े तीन हाथ के पुतले मैं बैठा देख रहा हूँ ।' इसलिए व्यापकता का तो पता वहाँ भी नहीं है। 'मैं व्यापक नहीं हूँ' इसका वहाँ भी भान है ।

जाग्रत् में - मैं व्यापक नहीं हूँ, संसार के कुछ पदार्थ हैं, और कुछ मैं देखता हूँ ये तीन चीज़ें हैं। स्वप्न के अंदर बाहर के पदार्थ नहीं हैं, अपनी वासना से देखता हूँ, फिर भी अपनी व्यापकता का भान नहीं है। जब गहरी नींद में जाते हैं तब तीसरा चरण है जैसे श्रीकृष्ण, गुफा के अंदर गये थे। जैसे वहाँ काला अंधेरा ही था, जो उनके साथ गए थे उनको बाहर ही छोड़ दिया, वैसे ही सुषुप्ति में होता है। इसी बात को यहाँ मन्त्र कह रहा है 'समस्तानपि' इत्यादि वाक्य से। सारे करण, सारी इन्द्रियाँ, ज्ञान के सारे साधन, अन्त:करण, बुद्धि सब को बाहर छोड़ दिया। गहरी नींद में जाते हैं तो सब उपाधियां पीछे छोड़ कर जाते हैं, तब उस गुफा में घुसते हैं, जैसे वहाँ अंधेरा ही था वैसे ही गहरी नींद अपने को कैसी लगती है? अंधेरा ही लगता है। यदि इस सुषुप्ति का विचार करें, गुफा में प्रवेश करें, तब वहाँ जा कर दीखती है आत्ममणि। सुषुप्ति में भी यह पता लगता है कि 'मैं कुछ नहीं जान रहा।' मैं कुछ नहीं जान रहा - अर्थात् मैं मौजूद हूँ जो कुछ नहीं को जान रहा हूँ। यह है

आत्ममणि। जैसे उस मणि से लड़की खेल रही थी, वैसे ही अज्ञान के अंदर आत्मा आनदंरूप से है। सुषुप्ति से उठकर व्यक्ति दो बातें इकट्ठी ही कहता है - 'मैं कुछ नहीं जान रहा था, बड़े आनंद में था।' दोनों बातें कहता है - कुछ नहीं जान रहा था, आनंद को जान रहा था। इसे भी स्पष्ट समझ लेना: हम लोगों को आदत पड़ी हुई है कि सुख किसी चीज़ का होता है इसलिए बिना चीज़ का सुख होवे तो हम जल्दी समझ नहीं पाते। सुषुप्ति के अंदर जाते हैं तो वहाँ न बाहरी जगत् है और न हमारे संस्कारों का जगत् है क्योंकि इन्द्रियाँ मन बुद्धि सब छोड़ कर सोते हैं। वहाँ जो ज्ञान है वह आत्मा ही है। अज्ञान और आनदं दोनों को आत्मा ही प्रकाशित करता है। वहाँ आत्मा की स्वयंप्रकाशता का स्पष्ट पता चल जाता है। इसलिए उपनिषद् कहती है कि इस सुषुप्ति के अंदर जब इस प्रकार से जाते हैं सुषुप्ति के बारे में विचार करते हैं तब सिद्धि की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार से जाग्रत् की बाह्य प्रतीति और स्वप्न की आभ्यंतर प्रतीति, इन सब का अपह्नव करने से सिद्ध अपने स्वरूप को धारण किया जाता है अर्थात् वही आत्मस्वरूप है ऐसा जब अवधारण होता है, निश्चय होता है तब वह ब्रह्म-तुरीय है, यह स्थित होता है। मणि मिल गई तो भगवान् उसे वापस द्वारका ले आए, सब लोगों को दिखा दी । ढूँढना तो पड़ा पैर के चिह्नों से, घोड़े के, शेर के, भालू के पद चिह्नों से ढूँढ़ा, अन्ततोगत्वा गुफ़ा में गए, वहाँ मणि मिली । इसी प्रकार यहाँ जाग्रत् स्वप्नादि का विचार, पद चिह्न हैं। सुषुप्ति के

अंदर गाढ अज्ञान है, और अन्ततोगत्वा वहाँ मणि से खेलती लड़की है अर्थात् आनंदस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है, उसको लेकर जब आए तब कृष्ण का कलंक धुल गया कि यह चोर है। तुम सभी कृष्ण हो, सभी के कलंक लगा हुआ है कि सब बंधन में पड़े हुए हैं। कितना बड़ा कलंक है ! तुम नित्य-मुक्त-शुद्ध-स्वभाव वाले हो। कोई तुमको दूर से भी देख लेवे तो वह बधंन से छूट जाता है, लेकिन तुम्हारे ऊपर कलंक लगा कि तुम बद्ध हो, तुम पापी हो, तुम मूर्ख हो। जिसके ज्ञान से ब्रह्मा, विष्णु भी ज्ञान वाले हैं, जिसके आनंद से ब्रह्मा, विष्णु भी आनंद वाले हैं जिसकी सत्ता से ब्रह्मा, विष्णु भी सत्ता वाले हैं, जिसके दर्शन मात्र से मोक्ष है, ऐसे तुम्हारे ऊपर कलंक है कि तुम बद्ध हो, तुम अज्ञानी हो, तुम मूर्ख हो। जब इस प्रकार जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति के द्वारा जाकर उस मणि को प्राप्त करते हो तब कलंक धुलता है। मणि तो पहले ही देख ली गई, वह ध्यानावस्था में देखी थी, निर्विकल्प समाधि में देखी थी; परंतु वह मणि स्थिर नहीं थी। जब ले आए तब वह स्थिर रूप से अंदर बदं हो गई तिजोरी में। मणि धार्य कही जाती है, पहनी जाती है, वह जहाँ धारण होनी चाहिए वहाँ हो गई वह तुरीय ब्रह्म की स्थिति है। इसकी प्राप्ति का तरीका क्या है यह आगे बताएंगें।

विद्या की शरण

ओंकार का विचार कर रहे हैं: ध्याता, ध्यान और ध्येय - इन तीनों की ओंकाररूपता का प्रतिपादन करते हैं:

'सर्वकरणानि सम्प्रतिष्ठाप्य ध्यानं विष्णुः, प्राणं मनसि सह करणैः मनसि सम्प्रतिष्ठाप्य ध्याता रुद्रः, प्राणं मनसि सह करणैर्नादान्ते परमात्मनि सम्प्रष्ठिाप्य ध्यायीतशानं प्रध्यायितव्यम्।।'

ध्याता रुद्र और ध्यान विष्णु हैं। ध्याता अर्थात् ध्यान करने वाला, रुद्र है। ध्येय जिसका कि ध्यान करना है वह ईशान है। इस प्रकार से ध्याता, ध्यान और ध्येय का स्वरूप ही ओंकार का स्वरूप है। चाहे कर्म हो, चाहे ज्ञान हो, चाहे इच्छा हो, ये सर्वत्र त्रिपुटी में मिलते हैं, अर्थात् इनमें ये तीन हिस्से अवश्य मिलते हैं - विषयी, विषय और इनका सम्बन्ध; बिना तीनों मिले हुए एक भी सिद्ध नहीं होता। यद्यपि तीनों अलग-अलग हैं, और तीनों प्रतीत होते हैं, तथापि तीनों मिल कर ही सिद्ध होते हैं, इनमें कोई एक चीज़ अलग से मिलती नहीं। जहाँ भी ज्ञान होगा वहाँ जानने वाला ज़रूर होगा। अगर कहा जाए ज्ञान है और जानने वाला नहीं तो यह नहीं हो सकता, और ज्ञान का विषय ज़रूर होगा, ज्ञेय भी ज़रूर होगा, कोई चीज़ है जिसको जाना जा रहा है। ज्ञान के साथ ज्ञाता और ज्ञेय, सदा ही सिद्ध हैं।

इसी प्रकार से यदि कुछ भी करोगे, क्रिया होगी, कर्म होगा तो कोई-न-कोई करने वाला ज़रूर होगा, कर्ता ज़रूर होगा बिना करने वाले के क्रिया सिद्ध नहीं होगी और वह क्रिया किसी-न-किसी चीज़ के ऊपर की जाएगी। अगर तुमको घड़ा बनाना है तो मिट्टी के ऊपर कुछ न कुछ क्रिया करोगे। मिट्टी में कोई न कोई परिवर्तन ला कर उससे घड़े को सिद्ध करोगे। जहाँ भी क्रिया होगी, कर्म होगा, वहाँ कोई करने वाला होगा, किसी चीज़ को लेकर कुछ सम्पन्न किया जाएगा। चीज़ के ऊपर काम करने का मतलब है कि उस चीज़ के अंदर कोई परिवर्तन लाया जाएगा। परिवर्तन के प्रकार पहले बता आए हैं - कोई चीज़ उत्पन्न करोगे, कहीं पहुँचोगे, किसी चीज़ को सुधारोगे, किसी चीज़ के किसी हिस्से को हटाओग, बदलोगे। ये ही चार क्रिया के फल हैं। इसी प्रकार यदि इच्छा होगी तो इच्छा का कोई-न-कोई विषय होगा, किसी-न-किसी चीज़ की इच्छा होगी और कोई-न-कोई इच्छा करने वाला होगा। इ ाान, बिना ज्ञाता ज्ञेय - के नहीं; क्रिया, बिना कर्ता के और विषय के नहीं; और इच्छा, बिना किसी इच्छा करने वाले के और बिना किसी इष्ट पदार्थ के नहीं।

इस त्रिपुटी को ओंकार की अकार, उकार मकारात्मक त्रिपुटीरूप से बतला रहे हैं। यह त्रिपुटी दो प्रकार से हो सकती है, एक विद्या-सृष्टि और दूसरी-अविद्या सृष्टि। हैं दोनो ही अज्ञान, विद्या भी अज्ञान है और अविद्या भी अज्ञान है परंतु दोनो की अज्ञानरूपता होने पर भी कुछ फ़र्क है। ऐसे समझ लो, तुम दिल्ली के रहने वाले हो; दिल्ली से बम्बई तक की

एक सड़क है । सड़क तो एक ही है दिल्ली से बम्बई जाने की परंतु उस सड़क के ऊपर दो तरह से चल सकते हो। बम्बई की तरफ मुँह करके चल सकते हो अथवा रास्ते में कहीं से भी दिल्ली की तरफ मुँह करके चल सकते हो। दिल्ली और बम्बई की सड़क एक ही है। बम्बई की तरफ मुँह करके चलोगे तब भी वही शहर, वही बाजार और वही मोड़ आएँगे और यदि दिल्ली की तरफ मुँह करके चलोगे तो भी वही शहर, वही बाजार और वही मोड़ आएँगे । सड़क एक, मिलने वाली चीज़ें एक, किन्तु फल में भेद है। बम्बई की तरफ मुँह करके चलोगे तो बम्बई पहुँचोगे और दिल्ली की तरफ मुँह करके चलोगे तो दिल्ली पहुँचोगे, यह फल का भेद है। ठीक इसी प्रकार अज्ञान तो एक ही है, इसमें जितने व्यवहार करोगे वे सब अज्ञान-रूप ही हैं, वही चीज़ें आनी हैं परंतु किधर को मुँह करके चल रहे हो इससे फल में भेद होगा। यदि आत्मा की ओर मुँह करके चल रहे हो तो रास्ते में चीज़ें वही आयेंगी परंतु संसार-बन्धन की निवृत्ति होगी। यदि अनात्मा की ओर मुँह करके चल रहे हो तब भी सड़क अज्ञान की वही है, मोड़ भी वही आएँगें सभी चीज़ें वही आएँगी, परंतु संसार-बन्धन बढ़ता चला जाएगा।

इसीलिए आचार्य मधुसूदन सरस्वती गूढार्थदीपिका में लिखते हैं कि आत्मा को उद्देश्य करके जो प्रवृत्ति की जाती है वह भी वस्तुत: निवृत्ति है। अनात्मा को उद्देश्य करके जो निवृत्ति की जाती है वह भी वस्तुत: प्रवृत्ति ही है। आत्मा को उद्देश्य करके प्रवृत्ति करते हो, परमात्मा

की प्राप्ति की दृष्टि से तीर्थयात्रा करते हो, दान करते हो, यज्ञ करते हो; ये सब प्रवृत्तियाँ हैं परंतु ये सब मन को शुद्ध करके मोक्ष के कारण बन जाते हैं। अनात्मा को विषय करके निवृत्ति भी होती है। बच्चा नहीं है, बच्चा हो जाए; मुकदमा चल रहा है, जीत जाएँ; तबीयत ठीक नहीं रहती है, ठीक हो जाए; व्यापार ठीक नहीं चल रहा, ठीक चल जाए; परीक्षा की तैयारी ठीक नहीं हुई, अच्छे अकँआ जाएँ; इन उद्देश्यों से तप करते हो। तप में निवृत्ति है, व्रत में निवृत्ति है, किसी चीज़ को छोड़ते हो। बढ़िया सुन्दर पलँग को छोड़कर ज़मीन पर सोते हो, सर्दी के मौसम में गंगाजी में जाकर गोता लगाते हो, गरमी के मौसम में पंचाग्नि तपते हो, निर्जला एकादशी को पानी भी नहीं पीते हो - ये सब निवृत्ति हैं। परंतु उद्देश्य तुम्हारा अनात्मा होने से ये सब प्रवृत्ति ही हैं। इसीलिए आचार्य मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि आत्मा के उद्देश्य से की जाने वाली प्रवृत्ति भी निवृत्ति है, अनात्मा के उद्देश्य से की जाने वाली निवृत्ति भी प्रवृत्ति ही है। इसलिए, क्या करते हो, इससे नहीं, किस उद्देश्य से करते हो इससे भेद आता है।

साधक को सम्बोधन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं हे साधक, हे बालक ! साधक बालक ही होता है। बल का अर्थ क्या बतलाया था? राग-द्वेष से रहित होना ही बल है। साधक रागद्वेष से रहित नहीं है इसलिए बलहीन है। उपनिषद् कहती है 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:' बलहीन के द्वारा यह आत्मा प्राप्त नहीं होता है। बलहीन का मतलब क्या जो पाँच सौ

दण्ड बैठक न कर सके वह? क्या आत्मा की प्राप्ति पहलवानों को ही होगी अथवा जवानों को ही होगी? बुड्ढों में तो यह बल होना नहीं है। भगवान् शंकराचार्य ने स्पष्ट किया कि बल का अर्थ है राग-द्वेष से रहित होना। साधक को सम्बोधित करते हुए कहते हैं हे बालक ! तुम्हारी दो माताएँ हैं, एक तो तुम्हारी अपनी माँ है और दूसरी सौतेली माँ है, उपमाता है। सौतेली माँ में और अपनी माँ में फ़र्क होता है। सौतेली माँ, बच्चा मेरी तरफ खिचं कर रहे इसलिए उसे क्षणिक सुख दे देती है। बच्चा कहता है 'मुझे चॉकलेट खानी है', सौतेली माँ सोचती है 'नहीं खिलाऊँगी तो लोग सोचेंगे सौतेली होने से मना करती है'। जानती है कि चॉकलेट दाँतों के लिए खराब है, फिर भी उसको चॉकलेट खिला देती है। बच्चा कहता है 'मुझे खेलने जाना है'। जानती है कि दो दिन बाद इम्तिहान हैं इसे पढ़ना चाहिए। सौतेली माँ सोचती है 'इसको मना करूँगी तो हल्ला करेगा, लोग कहेंगे माँ सौतेली है न'। इसलिए उपमाता, सौतेली माँ बच्चे के परम हित को नहीं समझती या तदनुकूल आचरण नहीं करती। इसी प्रकार यहाँ उपमाता अविद्या है। यह भिन्न-भिन्न प्रकार के द्वैत जीव को दिखाती रहती है। सारा संसार वही उत्पन्न करती है। पहले भी बतलाया था कि एक है स्त्री-शरीर दूसरी हैं उसमें तरह तरह की भावनाएँ। ये तरह-तरह की भावनाएँ अविद्या उत्पन्न करती है। ये जो तरह-तरह की मन की भावनाएँ हैं, सारा रस इन्हीं में है। जितनी-जितनी ये भावनाएँ प्रबल होती हैं, उतना-उतना द्वैत में रस आता है और जीव को बड़े आनन्द का अनुभव होता है। है वह क्षणिक आनन्द, टिकता नहीं है, परंतु नहीं टिकने पर भी है वह रसात्मक, सुख देता है

जैसे बच्चे को चॉकलेट खाना, परंतु फल क्या है? बुढ़ापा, मृत्यु इत्यादि सब लाने वाला यही है। बालक छोटा होने से जानता नहीं। माँ कहती है 'चॉकलेट नहीं मिलेगा', क्योंकि बच्चे का हित चाहती है। माँ कहती है 'खेलने नहीं देंगे', बच्चे का हित चाहती है। बच्चा समझ ाता है 'यह मेरा हित नहीं चाहती'। जो जीव की असली माँ है वह इसे जो पिलाती है वह कैसा है? एक बार भी यदि जीव उसको पी लेता है तो मृत्यु को जीत लेता है क्योंकि उसको जो चीज़ दे रही है वह जन्म-रोग-जराध्वंसि है। जन्म, रोग और ज़रा ये सब होते हैं शरीर प्राप्ति होने पर। विद्या जीव को शरीर से हटा देती है, इस प्रकार इनका ध्वंस कर देती है। विद्या के द्वारा ईश्वर का जो ज्ञान प्राप्त होता है वह एक बार भी हो जाए तो जन्म, मृत्यु, ज़रा, व्याधि कभी हो नहीं सकते। परंतु बालक इस बात को समझता नहीं।

कई बार लोगों के मन में शंका होती है कि 'यह इतना बड़ा संसार है, यदि इस की ओर हम नहीं देखेंगे तो यह कैसे चलेगा? ठीक है, परमात्मा की तरफ तो जाएँ, परंतु परमात्मा ने संसार बनाया है, यह भी तो चलना चाहिए। हम इधर ध्यान नहीं देंगे तो संसार ख़त्म हो जाएगा, उपमाता मर जाएगी। इसलिए सृष्टि के प्रति करुणा के कारण हम सृष्टि की रक्षा कर रहे हैं'। शास्त्रकार कहते हैं सब को दु:ख देने वाली यह सृष्टि मर भी जाए तो कोई हर्जा नहीं है। संसार नहीं चलेगा तो किसका नुकसान होना है? जो विचारशील है वह

तो संसार के सारे कार्यों को करते हुए दृष्टि किधर रखता है? मैं आत्मा की तरफ बढ़ रहा हूँ या नहीं। जैसा शुरू में ही बतलाया, सड़क एक ही है, इसलिए दोनों लोग एक ही कार्यों को करते हुए दीखेंगे। क्रिया अलग नहीं है, वही सड़क है वही बाजार आने हैं, केवल फ़र्क क्या है? तो किस तरफ मुख करके चल रहे हो। इसी प्रकार यह भी सारे संसार के व्यवहार करता है परंतु इसकी दृष्टि केवल आत्मा की तरफ है। अनात्म-पदार्थों की प्राप्ति हो, न हो, इससे उसको कोई फ़र्क नहीं पड़ता। भगवान् ने इसीलिए गीता में गिना भी दिया :

'सुखदु:खे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यश्च नैवं पापमवाप्स्यसि ।।'

भगवान् ने कहा अनात्म-पदार्थ मिल कर या सुख देते हैं या दु:ख देते हैं। शरीर को प्रिय लगने वाले पदार्थ मिल गए तो सुख होता है और शरीर को अप्रिय लगने वाले पदार्थ मिल गए तो दुख होता है। जिस अनात्म-पदार्थ को हम चाहते हैं, वह मिल गया तो लाभ है और जिस अनात्म-पदार्थ को हम चाहते हैं, वह दूर चला गया तो अलाभ है। जिस चीज़ को हम अपने वश में करना चाहते हैं वह हो गई तो जय है और हम उसे वश में नहीं कर पाए तो पराजय है।

प्रश्न उठता है कि किसी-न-किसी उद्देश्य के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। अगर सुखादि उद्देश्य नहीं तो कर्म करेगा क्यों? अविद्या, काम, कर्म - यह क्रम है। बिना कामना के कर्म हो ही नहीं सकता। महाराजा मनु कहते हैं कि बिना कामना के न कर्म देखा जाता है न सुना जाता है। कामना से जो रहित है उसकी क्रिया न देखी जाती है न सुनी जाती है। शास्त्र भी कर्म करने को कहता है तो साथ में बतला देता है कि इस कर्म का यह फल है। फल को बताने का उद्देश्य ही है कि जो फल को चाहेगा वह कर्म को करेगा। मीमांसा शास्त्र में अधिकारी का विचार किया कि किस कर्म को करने में अधिकृत कौन है, वहाँ अधिकारी की तीन विशेषताएँ मानीं - अर्थी, समर्थ और अपर्युदस्त । अर्थी - जो उस कर्म के फल को चाहता है । समर्थ - जो उस कर्म करने की सामर्थ्य वाला है। यदि समर्थ है और फल को चाहता नहीं तो भी उस कर्म को करेगा नहीं। हमारे पास लाखों रूपये हैं, पुत्रेष्टि यज्ञ कर सकते हैं पर पहले ही नौ बेटे और सात बेटियाँ मौज़ूद हैं! सामर्थ्य तो है, पुत्रेष्टि यज्ञ कर सकते हैं, पर करेंगे थोड़े ही। महीना भर से पानी बरस रहा है, नदी नाले सब में बाढ़ आ रही है। हमारे पास धन की सामर्थ्य तो है पर कारीरी याग करेंगे थोड़े ही। कारीरी याग वर्षा हो इसलिये किया जाता है। जब चारों तरफ बाढ़ आ रही है तब वर्षा की तो इच्छा है नहीं। इसलिये प्रश्न उठता है कि यदि हमें लाभ-अलाभ नहीं चाहिये, - जय पराजय नहीं चाहिए, सुख-दु:ख नहीं चाहिए तो हम कर्म करेंगे क्यों? यह भी संभावना नहीं कि नहीं करें,

चुपचाप बैठे रहें, क्योंकि भगवान् ने कहा 'ततो युद्धाययुज्यस्व' फिर भी कर्म करने में लगो, जो तुम्हारा कर्म है उसे करो। किस उद्देश्य से करना है और किस उद्देश्य से नहीं करना है?

अनात्मा का लाभ और अलाभ होता है। अनात्मा की जय और पराजय होती है। अनात्मा का सुख और दु:ख होता है। आत्मा आनंदघन है, वहाँ न सुख है न दु:ख है। आत्मा अद्वितीय है इसलिए जय और पराजय नहीं। आत्मा अपना स्वरूप है इसलिए लाभ और अलाभ नहीं। सुख और दु:ख - ये अनात्म-पदार्थ की प्राप्ति और अनात्म-पदार्थ के वियोग से होते हैं। उस आनंदघन के अंदर न दु:ख हो सकता है न सुख हो सकता है। सुख क्यों नहीं हो सकता? *होने* का मतलब होता है जो पहले नहीं है; तभी कहोगे *हुआ*। जो पहले से मौज़ूद है उसे तो 'हुआ' नहीं कहोगे। आत्मा आनंदघन है, आनंदरूप है इसलिए सुख *होना* संभव ही नहीं क्योंकि आत्मा हमेशा आनंदरूप है। जो स्वयं आनंदरूप है उसमें दु:ख होना तो कल्पनातीत है, सोच भी नहीं सकते, जैसे नमक की डली में कोई मिठास की कल्पना करे तो भी नहीं होगी। अत: आत्मा आनंदरूप होने से सुख-दु:ख से रहित है। आत्मा अपना स्वरूप है, कहीं बाहर से आने वाली चीज़ है नहीं, खुद तुम हो, इसलिए उसकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती। जो चीज़ पहले से मिली हुई न हो उसी के बारे में कहा जाता है 'इसकी प्राप्ति हो गई, इसका लाभ हो गया'। अपना स्वरूप होने के कारण आत्मा का लाभ भी नहीं और अलाभ भी नहीं, वह अपने से दूर भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार अनात्मा को तुम अपने

वश में कर सकते हो अथवा हो सकता है वह तुम्हारे वश में न होवे। आत्मा तो तुम खुद हो इसलिए न आत्मा तुम्हारे वश में होगा न वश में नहीं होगा तुम यदि आत्मा से भिन्न होते तो संभवत: वह तुम्हारे वश में हो सकता था। अद्वितीय होने के कारण जय और पराजय भी संभव नहीं। यद्यपि ये सब आत्मा में संभव नहीं है तथापि अज्ञान के कारण इस बात का तुमको पता नहीं है। अत: अनात्म-पदार्थों के सुख-दु:ख, लाभ-अलाभ, जय-पराजय के लिए नहीं वरन् इन सब से रहित जो स्वरूप भूत अद्वितीय आनंदघन आत्मा है, केवल उसके उद्देश्य से कर्म करने के लिये भगवान् ने आज्ञा दी है। काम सारे वही करने हैं, काम में फ़र्क नहीं है परंतु उद्देश्य में फ़र्क है।

उपमाता की चिंता को छोड़ कर केवल माता की शरण लेनी है। इन्द्रियों को विषयों की तरफ दौड़ाना है अविद्या और इन्द्रियों को विषयों से हटा कर अपने स्वरूप में स्थित करना है विद्या। सारी इन्द्रियों को विषयों से हटा कर स्वरूप में स्थित करना - यही ध्यान है, यही विष्णु है। विष्णु क्यों कहा? पहले कह आए हैं कि ओंकार को विष्णु कहा क्योंकि वह व्यापक है। विष्णु का अर्थ बतलाया था - सब इसमें प्रविष्ट होते हैं। विषय इन्द्रियों में प्रविष्ट होते हैं अत: इन्द्रियों से अतिरिक्त विषय हैं नहीं। इस प्रकार इन्द्रियों में सारे विषय प्रतिष्ठित हैं इस बात का निश्चय करने पर ही इन्द्रियाँ अपनी चंचलता को छोड़ेंगी। उपमाता तो कहती है बाहरी संसार में नाना प्रकार की अनेक चीज़ें मिलेंगी पर विद्या बताती है कि

सारा भेद तो इन्द्रिय-निमित्त होने के कारण इन्द्रियों के अन्दर ही प्रतिष्ठित है। यह निश्चय हो तब विषयों की तरफ जाना छूटता है। अभी हम समझते हैं कि चीज़ों से स्वाद आता है, बाद में पता चलता है कि स्वाद चीज़ों से नहीं आता, स्वाद तो जीभ से आता है। इसलिए जब जीभ को विषयों से हटा कर प्रतिष्ठित करते हैं तब दिव्य स्वाद का अनुभव होने लगता है जिस स्वाद के सामने ये कोई स्वाद नहीं हैं। उस स्वाद की छायामात्र विषय-संबंध से हमको मिलती है। जब तक उस स्वाद का पता नहीं, तभी तक तुम विषयों के स्वाद के पीछे जाते हो। ऐसे समझ लो, संसार में जो भी मीठी चीज़ है वह चीनी डालने से मीठी है। मान लो, तुमने दो मिसरी की डली खा ली; उसके बाद तुमको कैसा भी गुलाब जामुन, इमरती खिलाया जाए, हर बार तुमको लगेगा कि इसमें चीनी कम पड़ी है। क्योंकि जिस चीनी से दूसरी चीज़ मीठी होती है उस चीनी का स्वाद जीभ पर चढा हुआ है इसलिये दूसरी चीज़ें फीकी लगनी ही हैं। अत: जीभ के अंदर जो उपस्थित स्वाद है उसके कारण ही विषयों में स्वाद आता है।

चूँकि इन सारे पदार्थों से सम्बन्ध का मूलभूत द्वार इन्द्रियाँ हैं इसलिए कहा कि इन सबको पहले सम्प्रतिष्ठित करना चाहिये। मन व इन्द्रियों को अपने कारण में प्रतिष्ठित कर देना पड़ेगा। मन के द्वारा ही ध्यान होता है। मन जब तक विषयों का ध्यान करता है तब तक द्वैत है और जब इन्द्रियों के साथ मन को लीन कर लिया गया, मन का अलग रूप नहीं

रह गया। तब जो ध्यान करने वाला है वह रुद्र रह गया। ओंकार की रुद्ररूपता पहले बता ही दी थी। जब मकार को नादान्त में लीन कर देते हैं अर्थात् जब कारणता भी नहीं रहती है तब वह ईशान है। इस प्रकार ओंकार की ज्ञेयरूपता बतायी जिसमें ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों एक हो जातें हैं। जब तक ध्याता, ध्यान और ध्येय ये तीनों अलग-अलग हैं तब तक द्वैत प्रपंच है और जब एक हो गया तब प्रपंच का उपशम है। जैसे अ उ म जब तक अलग-अलग दीखते हैं तब तक ॐ नहीं है और जब ॐ हो गया तब ये तीनों अ उ म न रह कर एक अखण्ड हो गये। वस्तुत: ॐ तो एक अखण्ड ही है, समझने के लिये उसमें अ उ म की कल्पना की जाती है।

इसी शिवतत्त्व की ध्येयता बताते हैं -

'सर्वम् इदं ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्दा:, ते सम्प्रसूयन्ते, सर्वाणि च इन्द्रियाणि सह भूतै: न कारणं, कारणानां ध्याता कारणं तु ध्येय: सर्वेश्वर्यसम्पन्न: सर्वेश्वर: शम्भु: आकाशमध्ये ध्रुवं स्तब्ध्वाऽधिकं क्षणमेकं क्रतुशतस्यापि चतु:सप्तत्या यत् फलं तदवाप्नोति कृत्स्नम् ओंकारगतिश्च सर्वध्यानयोगज्ञानानां यत् फलम् ओंकारो वेद, पर ईशो वा शिव एको ध्येय: शिवंकर: सर्वमन्यत् परित्यज्य।।'

सारा नाम-रूपात्मक प्रपंच है। प्रपंच को उत्पन्न करने वाले ब्रह्मा, रक्षा करने वाले विष्णु, संहार करने वाले रुद्र, शासन करने वाले इन्द्र, बहुवचन से सब देवताओं का संग्रह कर

लेना; ये सारे उस अखण्ड से पैदा होते हैं जिससे यह त्रिपुटी उत्पन्न हुई। संसार और इसकी उत्पत्ति आदि करने वाले सारे देवता उसी से प्रकट होते हैं। कैसे? अपने अनुभव के दृष्टान्त से समझ लो: जब तुम गहरी नींद में थे तो वहाँ कुछ भी नहीं था। गहरी नींद में तुम अकेले ही थे, वहाँ कोई तुम्हारे साथ नहीं था। उस एक अकेले से जब तुम जाग्रत् में आए तो आँख पैदा हो गईं, कान पैदा हो गए, सारी इन्द्रियाँ उत्पन्न हो गईं, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, कर्म, वासनाएँ - सब उत्पन्न हो गए। किस में से निकल कर आए? तुम से निकल कर आए। जैसे ये सारे तुम्हारे में से निकल आए, इसी प्रकार एक ओंकार में से अकार, उकार, मकार, नाद इत्यादि निकल कर आए। उसी प्रकार महाप्रलय में जो एक ईशान थे, परमेश्वर थे, उन्हीं में से सारे देवता, ये सारा जगत् निकल कर आया । निकल कर आया उसके अत्यन्त छोटे हिस्से में। इसी तरह इसे समाप्त भी एक छोटे-से हिस्से में करना पड़ेगा, जिस बुद्धि में संसार बन्धन के रूप में अनुभव में आ रहा है उसी बुद्धि में इसे मिटाना भी पड़ेगा।

एक बहुत अच्छे ब्राह्मण थे उनका नाम था नीलनगर। भगवान् शंकर के बड़े भक्त थे। रोज प्रात: उठ कर नहा-धोकर, रुद्र-मन्त्रों के द्वारा बड़े विधि-विधान से भगवान् शंकर का पूजन करते थे। उनकी पत्नी भी सहयोग करती थी। हमारे यहाँ जितने भी शुभ कर्म हैं उन्हें यज़मान और यज़मान-पत्नी को मिल कर करना पड़ता है। इसीलिए जो पति या पत्नी से रहित होते हैं विधवा और विधुर, वे श्रौत कर्मों के अधिकारी नहीं। इसी नियम के अनुसार वे

शिवपूजा करते थे। करते-करते बहुत समय हो गया। एक दिन वे भगवान् शंकर का शृंगार कर रहे थे। वह शृंगार करने में लगे हुए थे तभी ऊपर से एक मकड़ी भगवान् के शिवलिंग पर गिर गई। मकड़ी के गिरते ही उनकी पत्नी ने झट से फूँक मार कर उसे उड़ा दिया, क्योंकि ऐसी मान्यता है कि मकड़ी को हाथ से खींच कर नहीं हटाना चाहिए। इसका कुछ भौतिक कारण भी है। मकड़ी के पैर में छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं, उनमें बड़ा ज़बरदस्त ज़हर होता है। उसके द्वारा ही मकड़ी कीट पतंगों को पकड़ती है । अगर तुम मकड़ी को दबाओगे तो शरीर के ऊपर उन ज़हर की ग्रन्थियों का असर आ जाएगा और तरह-तरह के चर्म-रोग हो जाते हैं। जिन्हें मोटी भाषा में कहते हैं कि 'मकड़ी मूत गई'। अत: मकड़ी को दबाया नहीं जाता बल्कि फूँक से उड़ा दिया जाता है, जिससे मकड़ी दबती नहीं और रोग होता नहीं। यह भौतिक कारण भी है और सामान्य रूप से ऐसा नियम भी है। उसने फूँक मारी, मकड़ी तो चली गई, पर बेचारे पण्डित जी ने अपने हाथों से दोनों आँखों को बन्द किया और चिल्लाने लगे 'हाय हाय ! क्या कर डाला ! ' क्योंकि फूँक मारने में डर है कि मुँह की थूक कहीं भगवान् को न लग जाए। अत: बहुत-सी जगह पर जब भगवान् के लिए भोग बनाते हैं तब अपने मुँह पर पट्टी बाँध लेते हैं कि कहीं धोखे से भी, बात आदि करने के दौरान् भी भगवान् के भोग में थूक की बूँद न गिर जाए। इसलिए फूँक मारने की संभावना ही नहीं होनी चाहिए। ब्राह्मण की पत्नी उस समय इस विचारवाली नहीं थी जैसे बच्चे के सिर पर कुछ पड़े तो झट फूँक मार देती है, ऐसे ही उसने फूँक दिया था। भगवान् तो उसका

भाव समझ गए पर बेचारे ब्राह्मण उसका भाव समझ नहीं पाए। वे अपनी पत्नी को डाँटने लगे 'तुने क्या कर दिया'! फिर से उन्होंने सारी शुद्धि की क्रिया की, सारे मन्त्रों को दोहराया, शुद्धि के मंत्रों को दोहराया, पचंगव्य से स्नान कराया भगवान् को शुद्ध करने के लिए। रात में सो रहे थे तो उनको स्वप्न में दीखा कि जिस जगह फूँक मारी थी वहाँ कुछ नहीं था, बाकी जगह घाव ही घाव हो गए थे ! भगवान् तो समझ गए थे कि वह किस भाव से कर रही थी, पण्डित जी समझ नहीं पाए थे। अब यह देख कर उनको समझ आ गई। भगवान् शंकर कहने लगे 'भगवान् विष्णु तो अवतार लेते रहते हैं, उनकी अनेक माताएँ हैं, मेरे अनेक भक्त हुए परंतु अभी तक वह भक्त नहीं हुआ जो मुझे अपना बेटा समझता और अपने को माँ समझ ाता, मुझे तो आज माता की प्राप्ति हो गई'। माताएँ बच्चे के सिर पर अगर कुछ हो तो झट उड़ा देती हैं, यही उस का भाव था कि नहीं उड़ाया तो इनके घाव हो जाएँगे।

विचार करो, भगवान् शंकर के ऊपर मकड़ी का पड़ना क्या है? जैसे मकड़ी के छह पैर हैं ठीक उसी प्रकार जो अविद्या का संपर्क भगवान् के साथ है, परमेश्वर के ऊपर अविद्या का लांछन पड़ना है वह अविद्या का लांछन छह पैरों वाला है। यह सारी सृष्टि छह चीज़ें हैं - पंचमहाभूत अनात्मा,और छठा व्यावहारिक आत्मा। पचंमहाभूतों से ही सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। पंचमहाभूतों के सत्वांश से ज्ञानेन्द्रियाँ बन गईं, अन्त:करण बन गया, उन्हीं के रजोंश से कर्मेन्द्रियाँ बन गईं, प्राण बन गये और उन्हीं के तमोगुणांश से यह दीखने वाला संसार बन

गया। पंचमहाभूतों से ही सारी सृष्टि बनी है। अत: पाँच पैर तो ये हो गए और छटा है इस के अंदर चेतन का संसर्गाध्यास, मोटी भाषा में जीव समझ लो। जीव पंचमहाभूतो का कार्य नहीं है, परंतु है छटा। इसका छटापना कैसा है? जैसे कहें कि 'यह आदमी छठा है' तो उसका मतलब है कि बाकी पाचं की अपेक्षा से छठा है। वैसे तो हर एक *एक* ही होता है, फिर भी पाँच बैठ गए तो छठा हो जाता है, चार बैठ गए तो पाँचवाँ हो जाता है, तीन बैठ गए तो चौथा हो जाता है, दो बैठ गए तो तीसरा हो जाता है; अपेक्षा से ये संख्याएँ होती हैं। बिना अपेक्षा के हर-एक एक ही है। पाँच दृश्यों की अपेक्षा से आत्मा को छठा कह दिया जाता है। इन छह पैरों वाली अविद्यारूप मकड़ी का लांछन चेतन पर, ब्रह्मपर पड़ा है। विद्यारूप माता से ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है इतने मात्र से विद्या को माता कह सकते हैं। वास्तव में तो ब्रह्म पहले से है तभी उसका ज्ञान हो पाता है अत: विद्या जनक माता नहीं हो सकती। घड़ा पहले से होता है पर हमें उसका पता उसे देखने से लगता है, ऐसे ही विद्याजन्य ज्ञान से ही ब्रह्म अनावृत होता है। भगवान् शंकर ब्राह्मणी के बच्चे तो नहीं बने पर उसने फूँक मारी तो ऐसा भाव हो गया कि मानो वे बच्चे हैं और वह माँ है। ब्रह्मविद्या की फूँक लगते ही मकड़ी-अविद्या-दूर हो जाती है। तत्त्वमसि आदि वाक्यों के श्रवणादि से जब सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होता है तब निश्चय हो जाता है कि अविद्या न थी, न है, न होगी। यही उसका दूर होना है। किन्तु ब्राह्मणी की यह चेष्टा ब्राह्मण को जँची नहीं: शास्त्र कहते हैं कि परमेश्वर वाणी का विषय हो नहीं सकता। (फूँक वाणी-स्थानीय है, दोनों मुँह से निकलती हैं

!) सामान्यत: लगता है कि परमेश्वर वाणी का, शब्द का विषय होना ही नहीं चाहिये। फिर स्वप्न-दर्शन की तरह समझ आता है कि जैसे फूँक लगने वाली जगह ठीक रही, अन्यत्र घाव हो गए, वैसे, जिस अन्त:करण में महावाक्य ज्ञान हुआ वह निर्दु:ख है, अन्य अन्त:करण यथावत् सुखी-दुखी है। इस प्रकार सब का एकमात्र कारण जो परमात्मा वहीं इस सारे द्वैत को समाप्त करता है, तत्त्वज्ञान से विषय किया गया वही इस प्रपंच को उपशान्त कर देता है। रुद्र अर्थात् दु:ख का नाशक वही है। वही ध्येय ॐ का ज्ञेय स्वरूप है।

एक शिव

ओंकार के ज्ञेयस्वरूप का विचार चल रहा है। सारे ही देवता, इन्द्रियाँ, महाभूत सब उसी से उत्पन्न होते हैं, वही सब का कारण है। कारण दो प्रकार के होते हैं - एक होता है कल्पना का आधाररूप कारण, दूसरा होता है उस रूप में बदलने वाला कारण। बदलने वाला कारण तो पहले कार्य-कारण-भाव वाले कारण के प्रसंग में कह दिया गया। अब बतला रहे हैं वह कारण जो बिना बदले प्रतीत होता है। दोनों का फ़र्क बतलाते हुए कहा गया 'सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा' और 'अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा'। सचमुच में कोई चीज़ दूसरे ढंग की हो जाए जैसी पहले नहीं थी वैसी उसकी सत्ता हो जाए तो परिणाम कहते हैं। सत्ता एक ही है किंतु उसकी प्रतीति तीन रूपों से होती है। सत्ता मायने 'हैपना'; सत् मायने 'है'। सत्ता की प्रतीति तीन तरह से: एक तो सत्ता की वह प्रतीति है जो किसी के साथ प्रतीत होती है, और ऐसा कभी नहीं कि उसकी प्रतीति बिना 'है' के हो, जैसे मैं; कभी भी ऐसी प्रतीति नहीं होती कि 'मैं नहीं हूँ'। मैं की जब प्रतीति होती है तब इसी रूप में होती है कि 'मैं हूँ' मैं के साथ 'नहीं हूँ' कभी भी नहीं लगता क्योंकि 'मैं नहीं हूँ' ये प्रतीति होने के लिए पहले मैं होऊं तभी 'नहीं हूँ' इस बात को जानूँगा ! अत: मैं के साथ कभी भी 'नहीं हूँ' की प्रतीति नहीं। मैं

होगा तो हमेशा है-रूप से ही होगा। इसको कहते हैं पारमार्थिक सत् - ऐसा 'है' जो कभी भी 'नहीं है', नहीं होता।

इससे सर्वथा विपरीत है जो हमेशा 'नहीं है' ही होता है। सत् तो ऐसा 'है' जो हमेशा 'है' ही होता है, जैसे मैं। असत्त जो हमेशा 'नहीं है' ही होता है, जैसे बाँझ का बेटा। बाँझ का बेटा है - इस रूप से उसकी कभी भी प्रतीति नहीं होती, बाँझ के बेटे की प्रतीति का प्रकार हमेशा है कि 'बाँझ का बेटा नहीं है'। सत् वह चीज़ हुई जो हमेशा 'है' प्रतीत होती है। असत् वह चीज़ हुई जो हमेशा 'नहीं है' प्रतीत होती है। सत् अर्थात् हमेशा 'है' ही, असत् अर्थात् हमेशा 'नहीं है' ही ।

ये दोनों बिना कारण के होते हैं। जो हमेशा है, उसका भी कारण नहीं हो सकता क्योंकि कुछ पहले नहीं हो, फिर 'है' हो जाए तो जो उसे 'है' बनाता है वह कारण होता है। जो हमेशा है, उसका कारण कैसे हो सकता है क्योंकि ऐसा कभी था नहीं जब वह नहीं था? अत: सत् बिना कारण के होता है। असत् भी बिना कारण के होता है। यदि 'नहीं है' का कारण हो तो इसका मतलब होगा कि उस कारण से पहले वह 'है' था, जब कारण आ गया तब

'नहीं है' हो गया। जैसे यदि कहते हैं 'देवदत्त नहीं है, देवदत्त नहीं रहा, देवदत्त मर गया' तो इसका मतलब है कि पहले देवदत्त जिदां था अब मर गया। इसी प्रकार यदि कोई चीज़ कारण से नहीं है तो मतलब हुआ कि कारण आने के पहले वह चीज़ थी। लेकिन असत् उसे बतलाया जो हमेशा ही नहीं है। इस तरह, जो हमेशा है वह भी बिना कारण के और जो हमेशा नहीं है वह भी बिना कारण के।

ये दोनों चीज़ें बहुत कम हैं। जो हमेशा है वह भी बहुत कम है, एकमात्र प्रत्यग-ब्रह्म ही ऐसा है जो हमेशा है। जो कभी नहीं है ऐसी चीज़ें भी बहुत कम हैं, जैसे बाँझ का बेटा। अधिकतर ऐसी चीज़ें हैं जो किसी समय में हैं और किसी समय में नहीं हैं। जितनी संसार की चीज़ें देखते हो वे सब ऐसी ही हैं। आदमी पैदा होने के पहले नहीं, घड़ा बनने के पहले नहीं, मकान भूकम्प से गिरने के बाद नहीं; जितनी संसार की चीज़ें हैं वे सब कभी हैं और कभी नहीं हैं। सत् और असत् - ये दोनों तो कारण से नहीं होते परंतु जो कभी है और कभी नहीं है वह किसी कारण के आने पर है और किसी कारण के आ जाने पर नहीं है। इसलिए इस को तीसरी जाति का कहते हैं - सत् और असत् दोनों से विलक्षण। संसार की सब चीज़ें न सत् कही जा सकती हैं न असत् कही जा सकती हैं क्योंकि किसी समय में हैं और किसी

समय में नहीं हैं अत: वे सत् और असत् दोनों से विलक्षण हैं। उन्हीं का अन्यथाभाव होता रहता है। अन्यथाभाव का मतलब, जैसा पहले था उससे बदलना। बदलेगी वही चीज़ जो पहले है और कारण आने पर 'नहीं है' हो जाती है या पहले 'नहीं है' है और कारण आने पर 'है' हो जाती है।

यह बदलना वास्तविक भी होता है, तत्वत: अन्यथाभाव, और अवास्तविक भी होता है, अतत्वत: अन्यथाभाव, बिना सचमुच बदले हुए भी होता है। सोने में समझ लो: एक तो सोने में सोनापना है; चाहे गहना होवे, चाहे पासा होवे, चाहे बिस्कुट होवे, सारी शक्लों के अंदर इन सारे रूपों के अंदर सोना तो सोना ही है। सोना नहीं बदलता। क्या बदलता है? सोने का रूप बदलता है। सोना चाहे बिस्कुट के रूप में होवे चाहे गहनों के रूप में होवे, सोने का रूप बदलता रहता है, सोना तो वैसा का वैसा रहता है। इसी प्रकार तुम मिट्टी से तरह-तरह के बर्तन बनाते हो पर मिट्टी नहीं बदलती। मिट्टी का तुमने पिण्ड बनाया, मिट्टी का तुमने बर्तन बनाया, मिट्टी का तुमने चूर्ण बनाया, इन सब में मिट्टी के रूप तो बदले परंतु मिट्टी तो मिट्टी ही है। कौन-सी चीज़ बदलने वाली मानी जाए, कौन-सी नहीं बदलने वाली? सारे कार्यों में जो एक जैसी रहती है वह नहीं बदलने वाली और कार्यों के अंदर जो एक जैसा नहीं रहता वह बदलने वाला मानना होगा। पासा, मोहर, गहना इन सब में सोना तो है, नहीं बदलने वाला; इसीलिए कहते हो सोने का गहना, सोने की अशरफी, सोने का पासा। या मिट्टी का

लोन्दा, मिट्टी का सिकोरा, मिट्टी का घड़ा - इनमें मिट्टी एक जैसी, और लोन्दा आदि रूप बदलने वाले हैं। ऐसे ही गहना, अशरफी आदि रूप बदलने वाले हैं। जो एक जैसा रहता है वह नहीं बदलने वाला और जो अलग-अलग रूपों को धारण करता है वह बदलने वाला है।

विचार करो, इस संसार में कौन-सी चीज़ ऐसी है जो सब चीज़ों में एक जैसी रहती है? संसार में जितने पदार्थ हैं उनके अंदर है-पने की प्रतीति एक जैसी होती है और रूप बदलते रहते हैं। घड़ा है, पन्ना है, लड्डू है, देश है, जानवर है, मनुष्य है, देवता है, ब्रह्मा है, विष्णु है, है कभी बदलता नहीं। इसलिए है ही नहीं बदलने वाला है। बदलने वाले हो गए घड़ा, लड्डू, मनुष्य, जानवर, देवता। 'है' चूँकि एक जैसा रहता है इसलिये यही नहीं बदलने वाला कारण है और नाम-रूप बदल रहे हैं, कार्य हैं। हर बार जब रूप बदलता है तब नाम भी बदल जाता है। इसलिए नाम और रूप बदलने वाले हैं, और बदलने वाली चीज़ को ही माया कहते हैं।

बड़ी भारी ढेरी होवे चावल की, उसमें से एक-एक दाना निकालते जाओ तो कब ख़त्म होगी ! एक पुरानी कहानी आती है: किसी राजा ने कहा 'हमें ऐसी कहानी सुनाओ जो लम्बी हो कभी ख़त्म न हो, कहानी ख़त्म होते ही सुनाने वाले को मरवा दूँगा'। लोग बड़ी-बड़ी कहानियाँ सुनाते रहे, कोई महीने भर में तो कोई दो महीने में मारा जाए ! अंत में एक

बुद्धिमान्, आया उसने सुनाना शुरू किया 'राजन् एक बहुत बड़ा ज़मींदार था एक साल बहुत अच्छा पानी बरसा, खेती बहुत बढ़िया हुई, खूब अनाज हुआ। उसने एक बड़ा भारी कोठार बनाया और सारा अनाज उसमें भर दिया। हज़ारों मन अनाज था, बहुत बड़ा ज़मींदार था। उस कोठार के बनने में एक भूल रह गई, उसमें एक छेद रह गया। किसी चिड़िया ने वह छेद देख लिया, चिड़िया उसके अंदर गई, उसने देख कर चोंच में एक दाना उठाया और फुर्र से उड़ गई। उसको देख के दूसरी चिड़िया उसी छेद से अंदर गई, उसने दूसरा दाना उठाया और फुर्र करके उड़ गई। तीसरी चिड़िया उसी छेद से अंदर गई, उसने तीसरा दाना उठाया और फुर्र करके उड़ गई। यही पंक्ति वह बोलता गया। राजा ने कहा, 'अरे, आगे कहो, यह तो सुन लिया'। उसने कहा, 'राजन् ! अभी तो चार हज़ार दाने ही निकले हैं, हज़ारों मन का कोठार है पूरा खाली तो होने दो, तभी कहानी आगे चलेगी।' हज़ारों मनों का कोठार इस तरह कब खाली होना था ! राजा ने हार मान ली, कहने लगा 'तुम्हारी कहानी ख़त्म होने वाली नहीं है तुम्हें हम मार नहीं सकते'।

ऐसे ही यह मायारूप कोठार है। परमेश्वर की माया शक्ति सारे ऐश्वर्यों से सम्पन्न है। इस माया शक्ति में से कितनी चीज़ें निकल सकती हैं इसका कोई ठिकाना नहीं है ! हम लोग सब चिड़ियों की जगह हैं। माया शक्ति चारों तरफ से ढकी हुई है। है ही यह अज्ञ

ाानरूप, अंधकाररूप, इसीलिए हम लोगों को दीखती नहीं है। माया का एक अत्यन्त छोटा-सा हिस्सा जो हम लोगों को अपने मन-इन्द्रियों के द्वारा दीखता है बस उतना ही उसका रूप हमें पता चलता है। सौ साल तक जिन्दा रहोगे। अनन्त काल में अनन्त चीज़ें हुईं हैं और होती रहेंगी, - उनमें से बहुत ही कम को तुम जान सकते हो अत: जैसे एक दाना लेकर उड़ने से चिड़िया कोठार खाली नहीं कर सकती, वैसे ही तुम माया के विस्तार को पूरा जान लो यह नहीं हो सकता। अरबों-खरबों सालों से यह सृष्टि चल रही है। तुमको तो सौ साल की चीज़ों का, उनमें भी जो तुम्हारे सामने आयें उन्हीं का ज्ञान होना है तो माया की सब चीज़ों को जान लोगे क्या? कहाँ -कहाँ नीहारिकाएँ हैं, 'गैलैक्सीज़' हैं, अनन्त तारे हैं अलग-अलग लोक हैं उन सब को जान सकते हो क्या? सौ साल में होने वाली अनन्तताओं में से भी बहुत थोड़ी-सी चीज़ें तुम जानते हो। थोड़ा भी विचार करो तो स्पष्ट है कितना कम जानते हो। देखकर अर्थात् अपरोक्ष तो बहुत ही कम चीज़ें जानते हो, सुन-पढ़कर अर्थात् परोक्षरूप से उससे कुछ ज्यादा चीज़ें जान लेते हो। दिल्ली में भी होने वाली सब चीज़ों को जानते हो क्या? घर में भी होने वाली सब चीज़ों को जानते हो क्या?

एक आदमी एक महात्मा के पास जाया करता था । कई बार ऐसा होता था कि जो उसके मन में प्रश्न हो उसे न पूछने पर भी महात्मा उसका उत्तर दे देते थे। महात्मा से ज़रा ज़्यादा नज़दीकी हो गया। एक दिन कहने लगा 'भगवन् आपको कैसे पता लग जाता है

कि मेरे मन में क्या प्रश्न है'? उन्होंने कहा, 'मन तुमको तो लगता है जैसे लोहे के संदूक में बन्द होवे, व्यक्ति को देख कर उसके मन का कुछ पता नहीं चलता। जो विचारशील होते हैं उनको ऐसा लगता है मानो मन काँच में बन्द होवे ! जो काँच में बन्द होता है वह साफ दीखता है'। भक्त कहने लगा 'भगवन् मुझे भी यह विद्या सिखा दीजिए जिससे दूसरे के मन की बात का पता चल जाये'। महात्मा ने कहा, 'अरे यह ग्रहस्थों के काम की विद्या नहीं है, यह नहीं सिखाऊँगा तुम्हें'। दस-बीस दिन पीछे पड़ा ही रहा, महात्मा कहते रहे 'जाने दे, जाने दे' पर वह नहीं माना। एक दिन महात्मा ने परेशान होकर कहा 'अच्छा बतला देता हूँ'। उसको बता दिया कि दूसरे के मन का ज्ञान कैसे हो जाता है। बड़ा खुश हुआ, घर पहुँचा। विद्या लेने में कुछ समय तो लग ही गया था। घर पहुँचते ही पत्नी दिखाई दी, पत्नी प्रेम से कहने लगी 'आइए-आइए भोजन तैयार है'। उसे तो पत्नी का मन भी दीख रहा था, उसमें उठ रहा था 'कब से पकौड़े बनाकर रखे थे, इनके आने का तो कोई समय ही नहीं, कभी घण्टे बाद तो कभी दो घण्टे बाद आ गए। अब पकोडों में क्या स्वाद बचा होगा ! ' यह सब वह मन में सोच रही थी। 'चलो फिर-से ज़रा तल कर दे दूँगी लेकिन ये कहेंगे कि जल गए'। वह देख रहा था कि मुँह से तो कह रही है 'आइए आइए, आपके लिए बढ़िया चीज़ बनाई है' और मन में कुढ़ रही है। तब तक लड़का आ गया, उसने बड़े प्रेम से

पिता के पैर छुए, नमस्कार किया। उनको तो उसका मन दीख रहा था: वह सोच रहा था 'तीन दिन से कह रहा हूँ कि बीस लाख चुकाना है, मेरी नाक कट रही है, और ये खाली पूछे जा रहे हैं कि इतना ज़्यादा किस में खर्च कर दिया, कैसे कर दिया? बूढ़े हो गए लेकिन पैसा इनके हाथ से छूटता नहीं है'। इसी प्रकार लड़की, भाई, मुनीम, ग्राहक सबसे व्यवहार हुआ, थोड़े समय में ही उसको पता चल गया कि मनुष्य बाहर जो कहता-करता है और अंदर जो सोचता है उनमें बड़ा फ़र्क है। दु:खी हो गया। अन्त में महात्मा के पास वापस जा कर कहने लगा 'भगवन्, आप ये विद्या वापस ले लीजिए, हमें नहीं चाहिए'। महात्मा कहने लगे 'तुझे पहले ही कहा था, यह ग्रहस्थियों के काम की चीज़ नहीं है। जिनका राग-द्वेष छूट गया है, जिनके मन में कोई आग्रह नहीं है, उनके मतलब की तो यह विद्या है, अन्यथा यह दु:ख का ही कारण हो जाती है'। इस प्रकार, हमें अपने ही घर में होने वाली सब चीज़ों का पता नहीं है। अपने मन में जो होता है बस वही पता रहता है बाकी घर में क्या हो रहा है क्या पता है !

विचार करो; अनन्त काल में, सौ साल और सौ सालों में भी एक भू-लोक, भू-लोक में भी एक परिवार और परिवार में भी एक मन इतने का ही तुम्हें ज्ञान है। यह हज़ारों मन धान के कोठार में एक दाने जितना ही है। इस माया की अनंतता का विचार करो; लोग इतना-सा

जानते हैं, माया का अंत कैसे आएगा? इसका कभी अंत नहीं आना है, यह तो रोज़ नई-नई चीज़ उत्पन्न करती रहेगी। कई बार लोग पूछते हैं कि विज्ञान बढ़ते-बढ़ते कभी ख़त्म होगा क्या? कभी ख़त्म नहीं होना है, यह तो इसी प्रकार बढ़ता ही रहेगा, कुछ चीज़ें छिप जाएँगी कुछ चीज़ें प्रकट हो जाएँगी। आजकल मन्त्रशक्ति छिप रही है, यन्त्रशक्ति प्रकट हो रही है। जो काम पहले मन्त्रों से हो जाते थे, अब लोगों को उन मन्त्रों का पता नहीं तो वही काम यन्त्रों से हो जाते हैं। कई शक्तियाँ छिप जाती हैं कई शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं।

दो प्रकार के कारण बताये थे, उनमें से यह माया है बदलने वाला कारण। एक नामरूप के बाद दूसरा नामरूप, तीसरा नामरूप यों नामरूप बदलते जाते हैं। नहीं बदलने वाला कारण सत् है। सत् नहीं बदलने वाला कारण कहा तो जाता है लेकिन प्रश्न उठता है कि सचमुच में नहीं बदलता तो कारण कैसा? कारण का मतलब है जो कार्यरूप में बदले। यह कार्यरूप में तो बदलता है नहीं इसलिए इसे कारण कह नहीं सकते । फिर वेद इसे कारण क्यों कहता है? तो ऐसे समझो: पुत्र की उत्पत्ति में बदलने का काम तो माँ करती है, पेट उसका ही बढ़ेगा, बच्चा उसके ही पैदा होगा, दूध उसके ही आएगा । पुत्रोत्पत्ति के प्रति बदलने वाला कारण तो माँ है, पिता में तो कोई फ़र्क नहीं आता है, वह तो जैसा है वैसा ही रहता है, न उसका पेट फूलता है, न उसे पुत्र का प्रसव करना पड़ता है, न उसे कोई दूध पिलाना पड़ता है। सारे परिवर्तन तो माँ में हैं, फिर पुत्र का कारण माँ को ही मान लो !

बाप में तो कोई परिवर्तन नहीं आता फिर भी। पिता के बिना माँ बेटा पैदा कर नहीं सकती इसलिए बाप कारण है। ठीक इसी प्रकार से सत् ब्रह्म के बिना माया कुछ पैदा कर नहीं सकती इसलिए ब्रह्म कारण है। इसीलिए गीता में भगवान् ने भी कहा 'अहम् बीज प्रद:पिता'। मैं पिता की तरह बीज देने वाला हूँ, परिवर्तित होने का सब काम तो माया करती है। बदलने वाली ही माया, उससे अनन्त चीज़ें उत्पन्न होती हैं क्योंकि वह अनंत शक्ति वाली है। सत् ब्रह्म नहीं बदलने वाला है, एक जैसा है। बदलने वाले कारण को देख कर संसार का कार्य चलता है। नहीं बदलने वाले कारण को देखने प र मोक्ष का कार्य होता है क्योंकि मोक्ष में बदलना कुछ नहीं है।

ओंकार के द्वारा जो नहीं बदलने वाला शम्भु उसका पता चलता है। शम्भु का मतलब होता है कि वह कल्याण-स्वरूप है, उसको कल्याण करने के लिए कुछ करना नहीं पड़ता। उस कल्याण-स्वरूप का ध्यान करना है। अपना जो हृदय-आकाश है उसके मध्य में उस कल्याणकारी का ध्यान करना है । किस प्रकार करना है? स्तब्ध होकर, इन्द्रियाँ मन इत्यादि कोई भी चले नहीं । चाहे अधिक समय लगे, चाहे एक क्षण लगे ज़रूरी है कि वह पकड़ में आ जाए । चौहत्तर प्रकार के भिन्न भिन्न यज्ञ बताए गये हैं, उन यज्ञों को सौ-सौ बार कर लेवे तब जितना पुण्य होगा उतना पुण्य हृदयाकाश के अंदर स्तब्ध होकर शम्भु का ध्यान करने से हो जाता है। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यज्ञ आचार, दान, अहिंसा

आदि अनेक प्रकार के धर्मों में 'अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनं' चित्त को एकाग्र करके जो अपने परमात्म-स्वरूप का दर्शन है वही परम धर्म है। लोक में सारे काम आप लोग किस लिए करते हैं? पैसा कमाने के लिए करते हैं । अब अगर आपको रिजर्व बैंक का मालिक बना दिया जाए, सारे नोट तुम्हारे ही दस्तख़त से निकलने लग जाएँ तो फिर नोटों को कमाने की ज़रूरत रहेगी? ठीक इसी प्रकार, जितने भी कार्य किए जाते हैं उन सब का एक ही उद्देश्य है - उस शम्भु का दर्शन। यदि उसका दर्शन क्षण भर के लिए भी हो जाए तो क्या कुछ करने की ज़रूरत रह जाएगी? इसलिए कहा कि ओंकार के इस ज्ञान के द्वारा सारे योगों का, सारे ध्यानों का, सारे ज्ञानों का ज्ञानसाधनों का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। सब साधनों का अतिंम फल क्या है? शम्भु ही है । ओंकार के इस रूप को समझने से वह शम्भु नित्य प्रत्यक्ष हो जाता है।

इसलिए भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं 'ओमित्येतद् यस्य बुधैर्नाम ग्रहीतं, यद्भाषेदं भाति समस्तं वियदादि'। दूर की चीज़ को तत् कहा जाता है और पास की चीज़ को एतत् कहा जाता है। 'एतत्' यह जो उच्चारण किया जाता है यही ॐ शिव का नाम है, ऐसा नहीं कि कोई दूसरा ॐ हो ! नाम लेने का मतलब क्या? किसी शब्द का अर्थ जाने बिना उसका उच्चारण करना नाम लेना नहीं। एक छोटी लड़की थी, उसके यहाँ महात्मा

आया करते थे, उसको उन्होंने कहा कि 'तुम भगवान् का भजन किया करो'। उसने पूछा 'कैसे किया करुँ'? उन्होंने मंत्र दिया 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव।' - तुम इसका रोज नियम से स्मरण किया करो । वह रोज़ जप करती रही। कुछ समय बाद उसकी शादी हो गई उसके पति का नाम था गोविन्द लाल, ससुर का नाम था हरिराम और, ददिया ससुर का नाम था मुरारि लाल। वह लड़की अब न 'गोविन्द' कह सके, न 'हरि' कह सके न 'मुरारि' कह सके। उस बेचारी का जाप बदं हो गया ! थोड़े दिनों के बाद उसके बच्चा पैदा हो गया। बच्चे का नाम लल्लू रख दिया गया तो उसका जप वापस शरू हो गया: 'श्रीकृष्ण लल्लू हे नाथ नारायण वासुदेव।' लल्लू थोड़े दिन बाद पीहर गई वहाँ महात्मा से मुलाकात हुई, पूछा, जप करती है? 'हां महाराज करती हूँ थोडे दिन तो छूट गया था अब करती हूँ'। 'क्यों छूट गया था'? उसने कहा कि ऐसे-ऐसे नाम की गड़बड़ी हो रही थी। जब लल्लू पैदा हो गया तब फिर जप शरू हो गया। वह नाम तो ले रही थी, पर उसको यह ही पता था कि नाम लल्लु के पिता,दादा,परदादा, का है।

नाम लेने का अर्थ होता है शब्द के अर्थ को समझकर उच्चारण करना। यदि शब्द के अर्थ को समझे बिना उच्चारण करोगे तो वह नाम लेना नहीं कहा जाता। इसलिए भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं कि 'बुधैः' अर्थात् बुद्धिमान लोग, विचार करने वाले लोग

भगवान् का ॐ नाम अर्थ समझकर लेते हैं जिसका नाम है वह कौन है? जिसके प्रकाश से आकाशदि सारा प्रपंच प्रकाशित हो रहा है। वह है तो सब कुछ प्रकाशित हो रहा है, वह नहीं तो कुछ भी प्रकाशित नहीं। दो चीज़ें हों तभी कुछ प्रकाशित होता है, ज्ञात होता है। एक तो वह चीज़ है जो प्रकाशित हो रही है, घड़ा है तभी न घड़े की प्रतीति होगी, घड़े का ज्ञान होगा । घड़ा नहीं होगा तो घड़े का ज्ञान कैसे होगा? ज्ञान होने के लिए चीज़ में है-पना होना चाहिए। और ज्ञान होने के लिए मैं चेतन चाहिए, मैं जानने वाला हूँ और सामने चीज़ है तभी मुझे उसका ज्ञान होगा। मैं नहीं हूँ, तब भी ज्ञान नहीं होगा, चीज़ नहीं है, तब भी ज्ञान नहीं होगा। आचार्य कहते हैं कि ॐ नाम उसका है जिसके प्रकाश से आकाशादि सब प्रकाशित होते हैं ।

जब विचार करते हैं तब दो चीज़ें नहीं निकलतीं ! लगता है दो के बिना काम हो नहीं सकता। किन्तु शास्त्र के उपदेश पर विचार करें तो पता चलता है कि दो चीज़ें नहीं हैं। एक ही चीज़ मन के अंदर आई हुई प्रत्यगात्मारूप से प्रतीत हो रही है और वही बाहर आकाशादि प्रपंचरूप से प्रतीत हो रही है। लगता है - मैं अलग हूँ चीज़ें अलग हैं चीज़ों में है-पना होना चाहिए और 'मैं' में ज्ञानरूपता होनी चाहिए। परंतु आगे विचार करके देखते हैं तो पाते हैं कि चीज़ केवल है इतने से भी प्रकाशित नहीं होती, मैं हूँ -इतने से भी चीज़ का ज्ञान नहीं होता। इसका मतलब हुआ कि 'मैं' और चीज़ का है-पना दोनो मिलकर

एक होवे तब ज्ञान होता है। मोटी भाषा में समझ लो, आँख के सामने घड़ा आएगा तभी दीखेगा, मैं हूँ - इतने मात्र से घड़ा नहीं दीखेगा, घड़ा है इतने मात्र से भी घड़ा नहीं दीखेगा। जब घड़ा और मैं दोनों इकट्ठे हो जाएँगें तभी मुझे घड़ा दीखेगा । ऐसा नहीं मान सकते कि चीज़ें तो अलग-अलग हैं, इकट्ठी हो जाती हैं क्योंकि सारे भेद का मिथ्यात्व और अभेद का सत्यत्व शास्त्र से निर्धारित है। सचमुच में तो द्रष्टा और दृश्य - ये चीज़ें एक हैं परंतु इनकी एकता का पता नहीं है, बस पता लगता है। अज्ञान के कारण चीज़ें दो लगती हैं ज्ञान होने पर पता चल जाता है एक हैं। जब तक इसका अज्ञान रहता है तब तक भेद बुद्धि रहती है। इसलिए वही प्रत्यगात्मारूप से कहा जाता है और वही परमेश्वररूप से कहा जाता है।

दोनों की एकता, दोनों के भेद का हट जाना ओंकार के ज्ञान से ये होता है। परमेश्वर का विराट् शरीर है और हमारा व्यष्टि शरीर है। व्यष्टि शरीर विराट् शरीर का एक छोटा-सा ही तो हिस्सा है। हम को लगता है हम अलग हैं, परतुं सचमुच में अलग हैं क्या? इस विराट् शरीर के एक अँगमात्र हैं। जैसे, यह हाथ कब तक है? जब तक यह हमारे शरीर का अँग है। इसे काट कर अलग कर दो, फिर यह ईटं पत्थर जैसा हो जाएगा, हाथ नहीं रहेगा। इसी प्रकार हमारा शरीर इस ब्रह्माण्ड का अँग रहते हुए ही सत्ता वाला है, अन्यथा इसकी कोई सत्ता नहीं। हमारा शरीर परमात्मा के इस ब्रह्माण्ड शरीर से एक है। ठीक इसी

प्रकार से हमारा मन भी समष्टि मन हिरण्यगर्भ के साथ एक है। शरीर की ब्रह्माण्ड से एकता देख लो: तुम्हारा ज़्यादा से ज़्यादा वज़न होगा सौ किलो; रोज कम-से-कम दो किलो भोजन पानी जाता ही होगा अंदर, जितना जाता है उतना ही करीब-करीब निकल भी जाता है, नहीं तो वज़न घटने लगेगा या बढ़ने लगेगा। पचास दिन में जो बाहर का ब्रह्माण्ड खाना पानी था वह तुम्हारे शरीर के अंदर गया और जो अभी तुम्हारे अंदर है वह निकल गया। यह *वही* शरीर है यह केवल हमारा भ्रम है। आदमी कहता है 'यह वही गंगा है जहाँ पिछले साल मैंने कुम्भ में स्नान किया था'। *वह* गंगा कब से बह कर समुद्र में पहुँच गई, समुद्र में मिल गई ! लेकिन *वैसा* ही पानी है इसलिए भ्रम बना रहता है कि यह *वही* है। इसी प्रकार इस शरीर के अंदर नई चीज़ आ रही है, पुरानी चीज़ जा रही है लेकिन एक साथ बदलता नहीं, इसलिए भ्रम बना रहता है।

एक हमारे परिचित सज्जन हैं उनकी मोटर बड़ी पुरानी हो गई है। हमने कहा 'तुम्हारी मोटर बड़ी पुरानी है बदलोगे नहीं'? तो बोले 'बदलेगें नहीं क्योंकि यह पिताजी के समय की मोटर है'। चार बार तो उसका इंजन बदल चुके, और चार बार बॉडी भी बदल चुके। अब वह इजंन भी पिताजी वाला नहीं है, बॉडी भी पिताजी वाली नहीं है फिर भी गाडी पिताजी वाली है क्योंकि बॉडी और इंजन एक साथ नहीं बदले ! ठीक इसी प्रकार हमारा सारा माल इकट्ठा नहीं बदलता इसलिए हमें लगता है कि यह शरीर वही है।

इसी प्रकार हमारा मन भी है: जो कुछ सुनते हैं, बाँचते हैं उस सबसे हमारे मन पर प्रभाव पड़ता है। हमने दूसरे से कहा, हमारे विचार दूसरे में गए, दूसरे के विचार हम में आए । लगता है कि मन वही है, लेकिन यह भी निरन्तर प्रवाह वाला है। कितनी चीज़ें बचपन के अंदर बड़े महत्व की थीं, एक कन्चा, काँच का टुकड़ा; उसके लिए हम मरने-मारने के लिए तैयार हो जाते थे ! ये वही मन है कह रहे हो। अब उस कन्चे के लिए हमारे बच्चे मरने मारने के लिए तैयार होते हैं तो हम डाँटते हैं 'अरे ! दूसरा कंचा ले लेना, इसके लिए इ ागड़ा क्या करना है।' फिर भी हम मानते हैं कि हमारा मन वही है ! मन भी हिरण्यगर्भ का, समष्टि मन का ही एक अंग है।

इस प्रकार स्थूल-सूक्ष्म-प्रपंच की भी एकता है और अन्ततोगत्वा आत्मा और परमात्मा की भी, सच्चिदानंद की भी एकता है । इसलिए कहा 'शिव एक:'। जो एक ध्येय है वही शिवंकर है जैसे ही उसका ज्ञान होता है वैसे ही तुम कल्याणकर हो जाते हो, फिर तुमसे जो होगा वह कल्याण ही होगा क्योंकि अकल्याण का कारण है द्वैत-बुद्धि। जहाँ द्वैत-बुद्धि होगी, दूसरे का भाव होगा, वहाँ अकल्याण होगा। जहाँ एक का भाव होगा, वहाँ अकल्याण हो नहीं सकता। इसलिए कहा कि एकमात्र उस अद्वैत को पकड़ कर के बाकी सब द्वैत को छोड़कर हमेशा नित्य कल्याण करते रहना चाहिए।

अब इस प्रकार से ओंकार का पूरा वर्णन करके अथर्ववेद समाप्त होता है।

'समाप्ता अथर्वशिखा तामधीत्य द्विजो गर्भवासाद् विमुक्तो मुच्यत एतामधीत्य द्विजो गर्भवासाद् विमुक्तो विमुच्यत इति ॐ सत्यम् इति उपनिषद्'।

अथर्वशिखा समाप्त हुई। यह अथर्ववेद का अंतिम हिस्सा है। इसको भली प्रकार से जान कर, जो द्विज है, वह मुक्त होता है। पहले बतला आए हैं कि पहला जन्म माता-पिता से और दूसरा जन्म गुरु से होता है तब बनते हैं। द्विज इस ज्ञान को प्राप्त करके, अथर्वशिखा का अध्ययन करके गर्भवास से छूट जाता है। तो क्या पहले गर्भवास में था? नहीं, इसीलिये कहा 'विमुक्तो विमुच्यते'। सचमुच में तो यह कभी भी गर्भवास में नहीं आया था। भ्रम से मान रहा था, वह भ्रम भी चला गया। जो भ्रम से होता है वह भ्रम के हटते ही चला जाता है। अंत में कहते हैं कि बस ॐ सत्य है इस बात को हमेशा याद रखें - यही अन्तिम तत्व है।

//अथर्वशिखोपनिषत् पूरी हुई//

अथर्वशिखोपनिषत्[१]

प्रथमः खण्डः

अथ हैनं पैप्पलादोऽङ्गिराः सनत्कुमारश्चाऽथर्वाणम् उवाच - भगवन् ! किमादौ प्रयुक्तं ध्यानं ध्यायितव्यं, किं तद्ध्यानं, को वा ध्याता, कश्च ध्येयः ।। १।।

श्रीमद्-उपनिषद्ब्रह्मयोगिविरचितं विवरणम्

ओंकारार्थतया भातं तुर्योंकाराग्रभासुरम् ।
तुर्यतुर्यत्रिपाद्रामं स्वमात्रं कलयेन्वहम् ।।

इह खलु अथर्वशिखोपनिषदः अथर्ववेदप्रविभक्तत्वेन उपोद्घातादिकं प्रश्नोपनिषदादितुत्यम्। शिष्याचार्यपैप्पलादाद्यथर्वप्रश्न-प्रतिवचनरूपेयम् आख्यायिका वक्ष्यमाणविद्यास्तुत्यर्था ।

प्रकृतोपनिषदो विवरणमारभ्यते-**अथेत्यादिना।** **अथ ह** यथोक्तसाधनानुष्ठानसंजातचित्तशुद्ध्यनन्तरं खलु पिप्पलादस्य अपत्यं **पैप्पलादो** नामतः, **अङ्गिराः, सनत्कुमारश्च एनं** विख्यातम् **अथर्वाणम् उवाच।** किमिति? हे **भगवन् ! किं** सर्वस्माद् **आदौ प्रयुक्तं** मुमुक्षुभिः, कस्य **ध्यानं ध्यायितव्यं**, **किं** वा तस्य ध्यानं, **को वा ध्याता** ध्यानकर्ता, सर्वैः **कश्च** को वा **ध्येय** इति।। १।।

स एभ्योऽथर्वा प्रत्युवाच - ओमित्येतदक्षरमादौ प्रयुक्तं, ध्यानं ध्यायितव्यम् इत्येतदक्षरं परं ब्रह्म, अस्य पादाश्चत्वारो वेदाः, चतुष्पादिदमक्षरं परं ब्रह्म ।। २।।

१ कथा इसी पाठ के अनुसार कही गई है।

एवं पिप्पलादाङ्गिरस्सनत्कुमारैः पृष्टो मुनिराह - **स इति।** य एवमेतैः पृष्टः **सः** अयम् **अथर्वा** मुनिः **एभ्यः प्रत्युवाच।** किमिति? **ओमिति** ब्रह्मप्रतीकालम्बनतया सर्वस्माद् **आदौ प्रयुक्तम्** ईश्वरेच्छयाऽऽविर्भूतं मुमुक्षुभिः प्रणवार्थेश्वर**ध्यानं ध्यायितव्यम्** इति यत् तद् **एतदक्षरं** प्रणवार्थरूपं

परम्, अपरं वा, **ब्रह्म**, 'परं चापरं च ब्रह्म यदोंकार:' (प्रश्न **५.२**) 'प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च पर: स्मृत:' (मां.का. **१.२६**) इति श्रुते:। **अस्य** प्रणवस्य व्यष्टिसमष्टितदैक्यावस्थाविशिष्टस्य **चत्वारो वेदा**: पादा इव **पादा:। चतुष्पादिदमक्षरं परम्**, अपरं वा, **ब्रह्म** ।।२।।

पूर्वाऽस्य मात्रा पृथिव्यकार: स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्य: ।।३।।

द्वितीयाऽन्तरिक्षं स उकार: स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णू रुद्रा: त्रिष्टुब् दक्षिणाऽग्नि: ।।४।।

तृतीया द्यौ: स मकार: स सामभि: सामवेदो रुद्र आदित्या जगती आहवनीय: ।।५।।

याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक ओंकार: साऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेद: संवर्तकोऽग्नि: मरुतो विराडेकर्षिर्भास्वती स्मृता ।।६।।

तस्याद्यमात्रास्वरूपमाह - **पूर्वेति। अस्य** प्रणवस्य **पूर्वा** आ**द्यमात्रा पृथिव्यकार** इति आदे: प्राथभ्यात् प्रथममात्रारूपत्वं युज्यत इत्यर्थ:।।**३**।। द्वितीयमात्रेयत्तामाह - **द्वितीयेति**। येयं

द्वितीया मात्रा **अन्तरिक्षं स उकार** इत्यादेः प्रथममात्राप्रसक्तपृथिव्यकाराद्यपेक्षया आनन्तर्याद् द्वितीयमात्रात्वं युज्यत इत्यर्थः।।४।। तृतीयमात्रेयत्तामाह - **तृतीयेति**। द्वितीयमात्रात्वेन प्रकटितान्तरिक्षोकाराद्यपेक्षया **द्यौः मकार** इत्यादेः समनन्तरत्वात् तृतीयमात्रात्वं युज्यत इत्यर्थः।।५।। चतुर्थमात्रेयत्तामाह - **याऽवसान इति। अस्य** प्रणवस्य **या अवसाने** सेयं **चतुर्थ्यर्धमात्रा** प्रणवतुरीयांशः **ओंकारः सोमलोकः** च, अथर्वणमन्त्रग्रामविशिष्टः अथर्वणवेदश्च**, संवर्तकोऽग्निः**, प्रलयकालीनाग्निः**, मरुतः** सप्त, महा**विराड्** एक एव ऋषति अवगम्यत इति **एकर्षिः**। एवं विशेषणविशिष्टेयम् अर्धमात्रा तुर्यप्रकाशभास्यतया **भास्वती स्मृता** सर्ववेदान्तेष्वभिहितेत्यर्थः ।।६।।

प्रथमा रक्तपीता महद्ब्रह्मदैवत्या। द्वितीया विद्युमती कृष्णा विष्णुदैवत्या। तृतीया शुभाशुभा शुक्ला रुद्रदैवत्या। याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा विद्युमती सर्ववर्णा पुरुषदैवत्या।।७।।

पुनर्विशिष्टमात्रा-तदध्यक्षपादस्वरूपमाचष्टे - **प्रथमेत्यादिना**। येयं **प्रथमा** मात्रा अकाररूपिणी सेयं **रक्त**मिश्र**पीत**वर्णा। यस्या महान् ब्रह्मा देवता सेयं **महद्ब्रह्मदैवत्या**। योकारात्मिका **द्वितीया** मात्रा, विद्युद्वद् द्योतनाद् **विद्युमती**, तन्मिश्रकृष्णवर्णोज्ज्वला, **विष्णुदैवत्या** च भवति। मकारात्मिकेयं **तृतीया** मात्रा अर्धमात्रोकार-सन्निहितत्वात् **शुभाशुभा**। वर्णतः **शुक्ला** शुक्लतेजोमयेश्वरोपाधित्वाद् **रुद्रदैवत्या** च भवति। **याऽवसाने** - इत्युक्तार्थम्। **सा विद्युमती**

विद्युन्निभा, सर्ववर्णहेतुत्वात् **सर्ववर्णा**, स्वेन तुर्यरूपेण कृत्स्नमात्रातदध्यक्षप्रपञ्चपूरणात् पुरुषः तुर्यात्मा स एव देवता यस्याः सेयं **पुरुषदैवत्या** च भवति ।।**७**।।

स एष ह्योंकारः चतुरक्षरः चतुश्चतुष्पादः चतुश्शिरः चतुश्चतुर्धा मात्रा स्थूलमेतद्ध्रस्वदीर्घप्लुतम् ।।८।।

विशिष्टप्रणवेयत्तामाह - **स एष इति**। य एवमुक्तः **स एष ह्योंकार**ः अकारादिभेदेन **चतुरक्षर**ः, विश्व-विराड्-ओत्रादिभेदेन **चतुश्चतुष्पादः, चतुःशिर**ः चतुस्तुर्यविशिष्टत्वात् **चतुश्चतुर्धा मात्रा** । यद्वा मात्राशब्दः कालवाची, **स्थूलम्** प्रथममात्रा कालस्य स्थूलत्वात्, तथा **एतद्** ह्रस्वं सूक्ष्मत्वात्, दीर्घं तदपेक्षया सूक्ष्मं, तदपेक्षया प्लुतं सुसूक्ष्मम्।।**८**।।

ॐ ॐ ॐ इति त्रिरुक्त्वा चतुर्थः शान्त आत्मा प्लुतप्रणव-प्रयोगेण समस्तमोमिति प्रयुक्तमात्मज्योतिः सकृदावर्तते ।।९।।

एवं प्रकारत्रयभेदेन प्रणवमुच्चार्य चतुर्थमात्रात्मकः **शान्त आत्मा** तुर्यस्य स्वातिरिक्तशान्तिसिद्धत्वाद्। एवं **प्लुतप्रणवप्रयोगेण** प्रणवाग्रनादज्योतिरनुसन्धानाद् **आत्मज्योतिः** निरावृतं सत् **सकृदावर्तते** सदा विभातीत्यर्थः।।**९**।।

सकृदुच्चारितमात्रेण ऊर्ध्वम् उन्नामयति इत्योंकारः। प्राणान् सर्वान् प्रलीयत इति प्रलयः। प्राणान् सर्वान् परमात्मनि प्रणामयतीत्येतस्मात् प्रणवः। चतुर्धाऽवस्थित इति सर्वदेववेदयोनिः सर्ववाच्यवस्तु प्रणवात्मकम्।।१०।।

प्रणवं चतुर्धा व्युत्पादयति - **सकृदिति**। **सकृत्** प्लुतोच्चारणतः मूलाधारादिब्रह्मरन्ध्रान्तम् **ऊर्ध्वम् उन्नामयति** उद्गच्छतीति **ओंकारः**। सर्वप्राणान् **प्रलीयते** प्रकर्षेण लयं नयतीति **प्रलयः** प्रणवस्य प्राणादि-प्रलयहेतुत्वात् प्रलयत्वम्। सर्वप्राणान् **परमात्मनि प्रणामयति** प्रकर्षेण नमनम् एक्यं गमयति **इत्येतस्माद्** हेतोः **प्रणव** उच्यते। एतत्कलनात्रय-विरलः चतुर्थः 'चतुर्थः शान्त आत्मा' इत्युक्तत्वात्। प्रणवस्थूलांश ओंकारः, तत्सूक्ष्मांशः प्रलयः, तद्बीजांशः प्रणवः, चतुर्थस्तु संशान्तस्वातिरिक्तः, इत्येवं **चतुर्धाऽवस्थितः**। **इति**शब्दो वस्तुत एक इति द्योतकः। अभिधेयाऽभिधानरूपेण **सर्वदेववेदयोनिः**। यत एवमतः **सर्ववाच्यवस्तु प्रणवात्मकं**, न हि ब्रह्मप्रणवातिरिक्तम् अभिधेयजातम् अभिधानजातं वाऽस्ति।।**१०**।।

// इति प्रथमः खण्डः //

द्वितीय: खण्ड:

देवाश्चेति सन्धत्तां सर्वेभ्यो दु:खभयेभ्य: सन्तारयतीति तारणात् तार: ।।१।।

अभिधेयाभिधानदेववेदजातं पूर्वोक्ततुर्योंकारस्य तारकत्वं विष्णुत्वं ब्रह्मत्वं स्वयम्प्रकाशत्वं महादेवत्वं च प्रकटयतीत्याह - **देवाश्चेति**। विश्वविश्वाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्ता: प्रणवाभिधेयरूपा **देवा: च**शब्दाद् अभिधानरूपा वेदाश्च, **इति** एवं **सन्धत्तां** सन्दधतां व्यत्ययेन अभिसन्धिं कृतवन्त:। किमिति? यस्तुरीयोंकारत्वेन अभिमत: तस्य सर्वदु:खभयान्वितसंसृतिसन्तारणात् स एव **तार**: ।।१।।

सर्वे देवा: संविशन्ति इति विष्णु: ।।२।। सर्वाणि बृंहयति इति ब्रह्म।।३।। सर्वेभ्योऽन्त:स्थानेभ्यो ध्येयेभ्य: प्रदीपवत् प्रकाशयतीति प्रकाश: ।।४।। प्रकाशेभ्य: सदोमित्यन्त: शरीरे विद्युद्वद् द्योतयति मुहुर्मुहुरिति विद्युद्वत् प्रतीयां दिशं भित्वा सर्वाँल्लोकान् व्याप्नोति व्यापयतीति व्यापनाद् व्यापी महादेव: ।।५।।

किं च यत्र तुरीयोंकारे तुर्यतुर्ये विश्वविश्वाद्यविकल्पानुज्ञै- करसान्ता: **सर्वे देवा:** तन्मात्रविशेषतया **संविशन्तीति** स **विष्णु:** तुर्योंकार: ।। **२**।।

किं च यत् स्वातिरिक्ताऽविद्यापदतत्कार्यजातं ग्रसित्वा स्वमात्रतया **बृंहयतीति** तद्धि **ब्रह्म**।।**३**।।

किं च स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तसर्वप्राण्यन्तर्बाह्यविलसित-कामादिघटादिस्वप्रकाश्य - **ध्येयेभ्य**: विविक्ततया तत् सर्वं य: **प्रदीपवत् प्रकाशयति** स्वभास्यकामादिघटाद्यभावे प्रकाशमात्रतया स्वयमवशिष्यत **इति** च तुरीयोंकार: **प्रकाश**: ।।**४**।।

किं च स्वाऽन्त:**शरीरे** स्वप्रकाश्येभ्य: कामादिभ्यो विविक्ततया **सदोमिति मुहुर्मुहु:** यो विषयजातं **विद्युद्वत् द्योतयति** प्रकाशयति; तत् कथम्? यथा **विद्युत् प्रतीयां** स्वप्रकाश्यमेघावृतिरूपां **दिशं भित्वा** स्वविषय - लोकैकदेशं **व्याप्नोति** तथा तुरीयोंकार: स्वप्रतीतिविषयभूतां **प्रतीयां** स्वावृतिरूपिणीं मायाख्यां **दिशं भित्वा** स्वाज्ञदृष्टिविकल्पित-**सर्वान् लोकान्** तदुपलक्षितानि अनन्तकोटिब्रह्माण्डानि सच्चिदानन्दात्मना **व्याप्नोति**

विश्वविराडोत्रादिरूपेण वा **व्यापयतीति** च येन केन वैवं **व्यापनाद् व्यापी महादेवः** तुर्योंकार ऐवेति सर्वदेवानां वेदानाम् अभिप्रेतोऽर्थः।।५।।

।।इति द्वितीयः खण्डः ।।

गुंफा मठ

तृतीय: खण्ड:

पूर्वाऽस्य मात्रा जागर्ति जागरितं, द्वितीया स्वप्नं, तृतीया सुषुप्ति:, चतुर्थी तुरीयम् ।।१।।

मात्रा-ऽवस्था-पादभेदविशिष्टतुर्योंकारं पुनरनूद्य विशदयति-**पूर्वेति**। **अस्य** तुरीयोंकारस्य **पूर्वा मात्रा** अकाराख्या पञ्चीकृतपञ्चमहाभूत-तत्कार्यभौतिकरूपेण **जागर्ति** इति सैव जागरणम् अभिधीयते। अस्य **द्वितीया** उकाराख्या मात्रा अपञ्चीकृत-पञ्चीकृत- पञ्चमहाभूततत्कार्य-जाग्रद्वासनात्मिका **स्वप्नं** स्वप्नावस्था भवति। अस्य **तृतीया** मकाररूपिणी मात्रा तु पञ्चीकृतापञ्चीकृत-पञ्चमहाभूततत्कार्यव्यष्टिसमष्टिकारणरूपेयं **सुषुप्त्य**वस्था भवति। अस्य **चतुर्थी** अर्धमात्रारूपिणी मात्रा तु जाग्रदाद्यवस्थात्रयप्रपञ्च-तत्कार्यभावाभावप्रकाशकं तुर्यं तुर्यावस्था भवति ।।१।।

मात्रामात्रा: प्रतिमात्रागता: सम्यक् समस्तानपि पादान् जयतीति स्वयम्प्रकाश: स्वयम्ब्रह्म भवति इत्येष सिद्धिकर: एतस्माद् ध्यानादौ प्रयुज्यते। सर्वकरणोपसंहारत्वाद् धार्यधारणाद् ब्रह्म तुरीयम् ।।२।।

एवम् अकारादि**मात्रा**प्रविभक्तस्थूलसूक्ष्मादि**मात्राः** पूर्वपूर्वा उत्तरोत्तर**प्रतिमात्रा**सु विलयं गता यदि तदा **सम्यक्** अकाराद्यर्धमात्राप्रविभक्तस्थूलादिमात्रापञ्चदशारोपापवादाधिकरण - विश्वविश्वाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्तान् **समस्तानपि पादान्** तुर्यतुर्यपरायणतया **जयतीति** प्रबोधसमकालं विद्वान् **स्वयम्प्रकाशो** भूत्वा **स्वयं ब्रह्म** एव **भवति इत्येष** तुर्यतुर्यो निष्प्रतियोगिकस्वमात्रम् इति तत्त्वज्ञानपथः **सिद्धिकरः।** एतस्माद् अतिरिक्तः पन्थाः कुपथ इत्यर्थः। **एतस्मात्** कुपथाद् अतिरिक्ततुर्यतुर्यप्रापकपथस्तु तुर्यतुर्य**ध्यानादौ**, **आदि**-शब्दार्थनिर्विकल्पकसमाधौ च, तदभिव्यक्तिः **प्रयुज्यते**। तत् कथम्? तुर्यतुर्याधिगमस्य स्वातिरिक्त**सर्वकरणोपसंहार**सिद्धत्वात्। तदपह्नवसिद्धत्वेन यद् **धार्यं** तत् स्वमात्रमिति अव**धारणात्** तुर्यतुर्यं **ब्रह्म** स्वमात्रम् अवशिष्यत इत्यर्थः।।२।।

सर्वकरणानि सम्प्रतिष्ठाप्य ध्यानं विष्णुः, प्राणं मनसि सह करणैः मनसि सम्प्रतिष्ठाप्य ध्याता रुद्रः, प्राणं मनसि सह करणैर्नादान्ते परमात्मनि सम्प्रतिष्ठाप्य ध्यायीत ईशानं प्रध्यायितव्यम् ।।३।।

तत्रोपाय उच्यते - यत् तुर्यं ब्रह्मेति प्रथितं तत्र **सर्वकरणानि सम्प्रतिष्ठाप्य** सम्यग्विलापनं कृत्वा यदेतद्विलापनाऽधिष्ठानं तद् ब्रह्माहमस्मीति **ध्यानं** कृत्वा तत्प्रभावतः **विष्णुः** प्रधानपुरुषो भवति। यद्वा **करणैः सह प्राणं मनसि सम्प्रतिष्ठाप्य** मनोमात्रावशिष्टं कृत्वा यस्य मनो ब्रह्माकारपरिणतं सोऽयमेवं **ध्याता रुद्रो** भवति। अथवा मुमुक्षुभिः **करणैः सह प्राणं मनसि,** मनस्तु

ब्रह्मप्रणव**नादान्ते परमात्मनि सम्प्रतिष्ठाप्य** स्वमात्रतया अवस्थातुम् ईश्वरं ब्रह्म प्रकर्षेण **ध्यायितव्यं** तस्माद् **ईशानम्** आत्मेति **ध्यायीत**।।३।।

सर्वमिदं ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सम्प्रसूयन्ते सर्वाणि चेन्द्रियाणि सह भूतैर्न कारणं कारणानां ध्याता कारणं तु ध्येयः सर्वैश्वर्यसम्पन्नः सर्वेश्वरः शम्भुराकाशमध्ये ध्रुवं स्तब्ध्वाऽधिकं क्षणमेकं क्रतुशतस्यापि चतुःसप्तत्या यत् फलं तदवाप्नोति **कृत्स्नमोंकारगतिश्च** सर्वध्यानयोगज्ञानानां **यत् फलमोंकारो वेद पर ईशो वा शिव एको ध्येयः शिवंकरः सर्वमन्यत् परित्यज्य।।४।।**

यस्माद् **इदं सर्वं** जगत् तत्सर्गस्थितिभंगकर्तारो **ब्रह्मविष्णुरुद्राः** च **ते सम्प्रसूयन्ते,** पञ्चभूतैः **सह सर्वाणि इन्द्रियाणि च सम्प्रसूयन्ते**, तत् **कारणम्** ईश्वराख्यं ब्रह्म, तदतिरेकेण भूतैः सहेन्द्रियाणि सत्त्वरजस्तमांसि वा **न** हि **कारण**पदं भजन्ति। मद्व्यतिरिक्तमणुमात्रं न विद्यत इति **ध्याता** परमेश्वरस्तु स्वयमेव सर्व**ध्येयो** भूत्वा स्वकार्यत्वेऽपि मिथः कार्यकारणभावम् आपन्नानां वियदादीनां **कारणं** भवति। सर्वकारणत्वेन यो **ध्येय**ः सोऽयं सर्वज्ञत्व-सर्वेश्वरत्व-सर्वकारणत्व-सर्वान्तर्यामित्वादि-**सर्वैश्वर्यसम्पन्नः सर्वेश्वरः** स्वांशजसर्वप्राणिस्वामित्वात्, **शम्भुः** सर्वसुखकृत्त्वात्। एवं विशेषणविशिष्टः परमात्मा सदा यो विजयते तमेतं **ध्रुवम्** आत्मानं यः कोऽपि वा पुरुषः स्वहृदया**ऽऽकाशमध्ये अधिकं क्षणमेकं** क्षणार्धं वा ध्यानपूर्वकं **स्तब्ध्वा** स्तम्भयित्वा ध्यायीत तस्य

तद्भावापत्तिरेव परमं फलम्, आन्तरालिकफलं तु चतु:सप्तत्यधिकशतक्रत्वनुष्ठानतो **यत् फलं तदवाप्नोति कृत्स्नम् ओंकारगतिश्च** अनेन विदिता भवेत्। एवम् **ओंकार** ओंकारं यो **वेद** सोऽयं मुनि: **सर्वध्यानयोगज्ञानानां यत् फलं** विद्यते **तदवाप्नोति**। एवमोंकारवित् **पर ईशो वा शिव एको ध्येय:** स्वभक्तपटलस्य **शिवंकर:** च भवति। यस्माद् एवं तस्माद् **सर्वमन्यत् परित्यज्य** तदधिकरणे निरधिकरणे वा।।४।।

समाप्ताऽथर्वशिखा, तामधीत्य द्विजो गर्भवासाद् विमुक्तो मुच्यत एतामधीत्य द्विजो गर्भवासाद् विमुक्तो विमुच्यत इत्यो ँ सत्यम् इत्युपनिषत्।।५।।

।।इति तृतीय: खण्ड: ।।

।।इति अथर्वशिखोपनिषत् ।।

परि**समाप्ता** इयम् **अथर्वशिखा, ताम्** अर्थत: **द्विज: अधीत्य** तज्ज्ञानमहिम्ना पुरैव **गर्भवासाद् विमुक्त**: स्वाऽज्ञानव्यवधानतो बद्धवद् भात:, स्वाऽज्ञानापाये जीवन्मुक्तो भूत्वा **विमुच्यते** विदेहमुक्तो भवति। अभ्यास आदरार्थ:। एतदथर्वशिखोपनिषदर्थविचारजन्यज्ञानेन विदेहमुक्तो

भवति **इति** उक्तमित्येतत्तद् **ओं सत्यम्** अवितथम्। **इत्युपनिषत्**-शब्दः प्रकृतोपनिषत्परिसमाप्त्यर्थः।।**५**।।

।।इति तृतीयः खण्डः ।।

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना।
लिखितं स्याद् विवरणं शिखोपनिषदः स्फुटम्।
शिखोपनिषदो व्याख्या विंशत्यधिशतं स्मृता।।

।।इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे
त्रयोविंशतिसंख्यापूरकम् अथर्वशिखोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्।।

ॐ

अथर्वशिखोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः। **स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।** स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः। **स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।।**

प्रथमः खण्डः

हरिः **ॐ।** ॐ **पिप्पलादोऽङ्गिराः सनत्कुमारश्च अथर्वाणं भगवन्तं पप्रच्छ - किमादौ प्रयुक्तं ध्यानं ध्यायितव्यं, किन्तद् ध्यानं, को वा ध्याता, कश्चिद् ध्येय इति ।।१।।**

नारायणविरचित-दीपिका

एषाऽथर्वशिखा नाम शिरऊर्ध्वं शिखोचिता।

द्विखण्डा सप्तमी मुण्डात् प्रणवार्थनिरूपिणी।।

सर्वार्थसिद्धिदं शिवमाराध्य विधूतविघ्नव्रातो भगवान् महेश्वरपूजनेन विधूताखिलकिल्बिषो देशिकः क्षुरिकोक्तमार्गेण साधितयमादि-प्रत्याहारान्तयोगांगो धारणापूर्वकं ध्यानपथमारुरुक्षुः सबीजयोगे मन्त्रस्यांगत्वात् सर्वमन्त्रशिरोमणिं प्रणवम् अवयवशः स्वरूपतश्च निर्णीय ध्याने विनियोक्तुं पुनः प्रकृतं तमेवानुसन्धत्ते - **ॐ पिप्पलाद इति।** अत्र प्रष्ट्ऋृणां त्रित्वम्, 'एभ्य' इत्यग्रेऽनुवादाद् अवसीयते। आख्यायिका तु विद्यास्तुत्यर्था। प्रश्नान् आह - **किमादाविति। आदौ** मुख्यत्वेन च **प्रयुक्तं** ध्यायते यत् तद् इति व्युत्पत्त्या **ध्यानं** ध्येयं ध्यानार्हं च **किम्** इत्यर्थः। अत्र च्छान्दसश्चिण्वदिट्। प्रथमप्रयुक्तो ध्येयश्च मन्त्रः क इति प्रथमप्रश्नार्थः। **किन्तद् ध्यानम्** इति - तस्य ध्यातव्यस्य मन्त्रस्य किं ध्यानम् - इति द्वितीयः प्रश्नः। **को वा ध्याताऽधिकारीति** तृतीयः। **कश्चिद् ध्येय** ईश इति चतुर्थः। **चिद्** वितर्के। को ध्येयो देव इति विचार्य वक्तव्यम् इत्यर्थः। **इति**-शब्दः प्रश्नसमाप्तौ।।१।।

अथैभ्योऽथर्वा प्रत्युवाच - ओमित्येतदक्षरम् आदौ प्रयुक्तं ध्यानं ध्यायितव्यम्। ओमित्येतदक्षरस्य पादाश्चत्वारो देवाश्चत्वारो वेदाश्चत्वारः ।।२।।

आद्यस्योत्तरम् - **ओमित्येतदक्षरम् इति।** सर्वस्य वक्तव्यस्य मन्त्रब्राह्मणादेः, देवताध्यानस्य च **आदौ** प्रथमं **प्रयुक्तम्। आदौ** ईश्वरे वाचकत्वेन प्रतिनिधित्वेन वा प्रयुक्तम् इत्यर्थः। द्वितीयस्योत्तरम् - **ओमित्येतदक्षरस्येति। पादा देवा वेदाः**[१] चतुःसंख्याका यथासंख्यं ध्येया इत्यर्थः। **देवा** उभयेऽपि-अधिष्ठात्र्यो गणदेवताश्च देवशब्देन गृहीताः। पृथिव्यादयो

लोकाः, गायत्र्यादीनि च्छन्दांसि च रूपाणि त्रिष्वेव सन्ति, न चतुर्षु इति पादादिपंक्तौ नोक्तानि। अग्नयः शिरस्त्वाद् नोक्ताः। एतेषां शिरस्त्वं 'चतुःशिरा' इत्यनेन (खं १ वाक्यं ५) वक्ष्यति। **पादाश्चत्वारः** अकारादयः ।।२।।

चतुष्पादेतदक्षरं परं ब्रह्म। पूर्वाऽस्य मात्रा पृथिव्यकारः, स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः। द्वितीयाऽन्तरिक्षम् उकारः, स यजुर्भिर्यजुर्वेदः, रुद्रो रुद्राः, त्रिष्टुब्, दक्षिणाग्निः। तृतीया द्यौर्मकारः, स सामभिः सामवेदः, विष्णुरादित्याः, जगती, आहवनीयः। याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा, सा लुप्तमकारः[२] सोऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेदः, संवर्तकोऽग्निः, मरुत एकऋषी रुचिरा भास्वती स्वभा।।३।।

पादादीन् वक्तुं पुनश्चतुष्पात्त्वं प्रतिजानीते - **चतुष्पादेतदक्षरं परं ब्रह्मेति। ऋग्भिः** उपलक्षितत्वाद् **ऋग्वेदः। ब्रह्मा**दयः अधिष्ठात्र्यः, **वस्वा**दयो गणदेवताः। **लुप्तमकारः** - मकारस्य विस्तरत्वात्। **साऽथर्वणैर्मन्त्रैः** उपलक्षिताऽतोऽथर्ववेदः। **संवर्तकोऽग्निः** ब्रह्मादिस्थानीयोऽधिष्ठाता। **मरुत** एकोनपञ्चाशत्संख्याका गणदेवताः। अत्र 'विराड्' इत्यपपाठः, चतुष्कपाठेऽपठितत्वाद्, अन्यथा 'पादाश्चत्वार' इत्यत्र च्छन्दांसि चत्वारीति च पठेत्।

१ द्वितीयखण्डारम्भदीपिकायां 'वेदा देवा' इति क्रमः साधीयानिति वक्ष्यति।

२ साऽथर्वणैरिति दीपिकानुसारी प्रतीयते। सो लुप्तमकार इति योज्यम्।
वर्णावसानत्वाच्चार्धमात्राया वर्णधर्मच्छन्दसोऽसम्भवात्। नारसिंहे तु 'विराड्' इत्यपि पठितं, तत्रौपचारिकं छन्दस्त्वं बोद्धव्यम्। **एकऋषि**: नाम अग्नि: मध्येऽ (मुख्येऽ) वस्थित:। तुर्यमात्राया ध्यानमाह - **रुचिरेति। रुचिरा** रम्या, **भास्वती** दीप्तिमती, **स्वभाऽन्यनिरपेक्षप्रकाशा।।३।।**

प्रथमा रक्ता ब्राह्मी ब्रह्मदेवत्या। द्वितीया शुभा शुक्ला रौद्री रुद्रदेवत्या। तृतीया कृष्णा विष्णुमती विष्णुदेवत्या। चतुर्थी विद्युन्मती सर्ववर्णा पुरुषदेवत्या ।।४।।

इदानीं मन्त्राणां वर्णानाह - **प्रथमेति। रक्ता** वर्णेन, सृष्टिहेतुत्वेन राजसत्वात्। **ब्राह्मी** ब्रह्मवती, अग्रे 'विष्णुमती'त्युक्तत्वात्। ब्रह्मा देवताऽपि तटस्थो भविष्यति, न सम्बद्ध इति शंकानिरासाय **ब्राह्मी**त्युक्तम्। **शुभा शुक्ला** चन्द्रसन्निभा। **रौद्री** नित्यसन्निहितरुद्रा। **पुरुष** ईश्वर:।

यद्यपि ब्रह्मविद्योपनिषदि अकारादीनां क्रमेण ब्रह्मविष्णुरुद्रा देवता उक्ता:, तथा तृतीया मात्रा **'**मकारश्चाऽग्निसंकाशो विधूमो विद्युतोपम**'** इत्युक्ता (ब्रह्मविद्यो.श्लो. **८**); अत्र तु ब्रह्मरुद्रविष्णवो देवता उक्ता:, तृतीयमात्रा च कृष्णोक्ता, तेन विरोध:; तथाऽथर्वशिरसि **'**या सा द्वितीया मात्रा विष्णुदेवत्या कृष्णा वर्णेन**'** (ख. **५**) इति देवता-वर्णविपर्यास उक्त:;

तथापि वस्तुतो ब्रह्मादीनां त्रयाणाम् एकरूपत्वाद् उपासनांगत्वेन फलभेदाय तत्तद्रूपोपादानम्। एतेन वर्णभेदोऽपि परिहृतः, ध्यानभेदेन फलभेदात्। अतएव कालाग्निरुद्रोपनिषदि महेश्वर-सदाशिव-शिवाः शैवं प्रति प्रणववर्णत्रयदेवा उक्ताः। आगमेषु क्वचित् सात्त्विकादिभेदेन एकस्या एव देवतायाः त्रिधा ध्यानमुक्तम्। वास्तवस्थितिं चाऽत्रैव वक्ष्यति 'ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरः शिव एव च। पञ्चधा पञ्चदेवत्यः प्रणवः' (खं. **२.७**) इति। कल्पभेदेन वा ब्रह्मादीनाम् उत्पत्तिक्रमभेदः। अतएव सन्ध्यायां ब्रह्म-रुद्र-विष्णव उपास्यन्ते। कैश्चिदन्यैस्तु ब्रह्म-विष्णु-रुद्राः प्रात-र्मध्याह्न-सायंकालेषु उपास्यन्ते। कौथुमैस्तु रुद्रो मध्याह्न उपास्यः 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद् वसूनां प्रातः सवनं, रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनम्, आदित्यानां च विश्वेषां देवानां तृतीयसवनम्' इत्याम्नानाद् (छां. **२.२४.१**) विष्णुरादित्यान्तर्भूतः।।**४**।।

स एष ह्योंकारः चतुष्पादः, चतुःशिराः, चतुर्थ्यर्धमात्रा।।५।।

चत्वारः पादा अकारोकारमकारार्धमात्रा विश्वतैजसप्राज्ञ- तुरीयलक्षणा यस्य स **चतुष्पादः**। चत्वारि शिरांसि उत्तमांगानि मुख्यस्थानीयानि अग्नयो यस्य स **चतुःशिराः**। अकारादीनां पूर्वपूर्वस्य उत्तरोत्तरावगति- हेतुत्वात्, पद्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या पादत्वम्। तुरीयस्य तु पद्यते गम्यते य इति व्युत्पत्त्या पादत्वम्। यद्वा, अकारादीनां पादत्वं प्राथम्यात् , सर्वधर्माश्रयत्वाच्च सर्वभारसहपादत्वम्। अग्नीनां मुखत्वं 'मुखादग्निरजायत' (पुरुषसू.**१२**) इति

श्रुतेः, अग्नेः सर्वदेवमुखत्वाद्, अन्त्यनिर्दिष्टत्वाच्च द्रष्टव्यम्। स्थूलरूपं त्रिधा विभक्तुं सूक्ष्मं पृथक्करोति - **चतुर्थीति। चतुर्थ्यर्धमात्रा** नादसंज्ञा लुप्तमकारः ।।५।।

स्थूलह्रस्वदीर्घप्लुतः ॐ ॐ ॐ इति त्रिरुक्तः, चतुर्थः शान्तात्मा प्लुतप्रयोगे न समम् इत्यात्मज्योतिः, सकृदावर्तव्यः ॐ स एषः।।६।।

स्थूलविभागमाह - **स्थूलेति**। यः **स्थूलो** वर्णकूटरूपः प्रणवः स **ह्रस्वदीर्घप्लुतः।** उद्देश्यविधेययोरपि विशेषणविशेष्यत्वमात्रविवक्षया समासः। ह्रस्वादीनां स्वरूपमभिनीय दर्शयति **ॐ ॐ ॐ इति।** प्रथम एकमात्रो, द्वितीयो द्विमात्रः, तृतीयस्त्रिमात्रः इत्यर्थः। नन्वेवं (नन्वेचो) ह्रस्वो नास्तीति कथं ह्रस्व ओंकारः? **नैष** दोषः। पार्षदश्रुतिरियं तत्रभवतां यथा राणायनीयानां 'सुजाते ए अश्वसूनृते अध्वर्यो ते अद्रिभिः सुतम्'। इति व्याकरणसिद्धे प्रयोगे ह्रस्वो नास्तीति तस्यार्थः। **इति त्रिरुक्तः** - इत्यभिनीतस्योपसंहारः। चतुर्थः पादः क्व वर्तते? अत आह - **शान्तात्मा प्लुतप्रयोग इति।** वर्तत इति शेषः। तत्रैवाभिव्यक्तत्वात्। **न समम्** अनुपमं रूपमिति हेतोः **आत्मज्योतिः** तत्। विरम्यमाणघण्टानादाद्युपमाऽपि न भवति, ततोऽप्यतिसूक्ष्मत्वात्। **सकृदावर्तव्यः** सकृदावर्तयितव्योऽनाहतशब्द इत्यर्थः। यथा सकृद्विभातः। तदपि कुतो भवतीति चेत्? श्रूयताम् - निर्विशेषत्वात् पूर्वापरविभाने भेदकाभावात्, तथा निर्विशेषत्वात् पूर्वापरावृत्तौ भेदैक्याभावात् सकृदावर्तव्यः शब्दब्रह्मसंज्ञः। **स एष** इति वर्णितप्रणवस्य उपसंहारः।।६।।

सर्वान् प्राणान् सकृदुच्चारितमात्रः स एष ह्यूर्ध्वमुत्क्रामयतीत्योंकारः ।। ७।।

।।इति प्रथमः खण्डः।।

ओंकारशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमाह - **सर्वान् प्राणान् इति**। प्राणा दश वायवः तान् समनस्कान् साग्नीन् षट्चक्रभेदनेन सुषुम्नाद्वारेण मूर्धानमानयतीत्यर्थः। पुनः **स एष** इत्यनुवाद आदरार्थः। अनेकार्थत्वाद् निपातानाम् ओम् इत्यूर्ध्वभावे; ऊर्ध्वान् प्राणान् कारयति उच्चारयितुरिति **ओंकार**ः। इति योगिभिरवश्यं ध्येय इति भावः।। **७**।।

।। इति प्रथमः खण्डः।।

द्वितीयः खण्डः

प्रणवः सर्वान् प्राणान् प्रणामयति नामयति चैतस्मात् प्रणवः चतुर्धाऽवस्थित इति वेददेवयोनिः।। १।।

तस्य नामान्तरमाह - **प्रणव इति।** प्रणवशब्दनिमित्तमाह - **सर्वानिति**। प्रणामो नम्रतापादनं, नामनं न्यग्भावापादनम्। **चतुर्धा** यतः **अवस्थितः** ततश्चतुर्णां वेदानां देवानां च योनिः। अनेन क्रमेण पूर्वत्राऽपि (खं. १ वाक्यं २) 'वेदाश्चत्वारो देवाश्चत्वार' इति पाठेन भवितव्यम्, साम्प्रदायिकैर्निश्चयो विधेयः ।। १।।

धेयाश्चेति। सन्धर्ता सर्वेभ्यो दुःखभयेभ्यः सन्तारयति ।। २।।

किन्तद् ध्यानम्? इति यत् पृष्टं, तदुत्तरं निगमयति - **धेयाश्चेति**। धाञो रूपम् (जु.उ.अ.)। धातव्या धरणीयाः, पादादयो बुद्ध्या न त्यक्तव्याः, ध्यातव्या इत्यर्थः। धारणस्य फलमाह - **सन्धर्तेति**। **सन्धर्ता** एषां पादादीनां धारयिता, तारयति आश्रितान्, स्वस्य किं वक्तव्यम् ! ।। २।।

तारणात्तानि सर्वाणीति विष्णु:।। ३ ।।

को ध्याता? इति प्रश्नं, ध्यातृब्रह्मविष्णुनिदर्शनेन उत्तरयति - **तारणात्तानीति**। **तारणे**न आश्रितानां दु:खभयापनयनेन **आत्तानि** अद भक्षणे (अ.प. से.), निष्ठा, ग्रस्तानि अभिभूतानि दु:खमयानि सर्वाणि **इति** हेतो: **विष्णु:,** स सर्वान् अत्ति क्षपयति दैत्यादीन्; छान्दसो जग्ध्यभाव:। अथवा **तारणात्** तारकत्वाद्धेतो: **तानि** पादादीनि **सर्वाणीति** पूर्वोक्तप्रकारेण **विष्णु**: ध्यातवान् इति शेष: ।। **३** ।।

सर्वाञ्जयति ब्रह्माऽबृहत् सर्वकारणानि सम्प्रतिष्ठाप्य ध्यानात्।।४।।

ध्यानफलमाह - **सर्वाञ्जयतीति**। अथ **ब्रह्माऽ**पि **अबृहद्** बृहत्त्वं गतवान्। कस्मात्? सर्वाणि कारणानि सर्वाणीन्द्रियाणि **सम्प्रतिष्ठाप्य** स्थिरीकृत्य **ध्यानात्**। विष्णुब्रह्मणोर्ध्यानकथनेन एतत्फलार्थी ध्यातेत्युक्तं भवति।।४।।

विष्णुर्मनसि नादान्ते परमात्मनि स्थाप्य ध्येयमीशानं प्रध्यायन्ति।। ५।।

कश्चिद् ध्येय:? इति चतुर्थम् उत्तरयति - **विष्णुर्मनसीति**। **नादान्ते** शक्तिद्वारा शान्तौ ब्रह्मणि प्रणवो हि पञ्चकूटात्मकोऽकारोकारमकारबिन्दुनादात्मक:, तत्र नादं परमात्मस्थाने **स्थाप्य** आरोप्य **ध्येयं** ध्यानोचितम् **ईशानं मनसि विष्णु: प्रध्यायन्ति** प्रध्यायतीत्यर्थ:। वचनव्यत्ययोऽन्येषामपि ईशस्य ध्येयत्वसूचनार्थ: ।। ५।।

ईशा वा सर्वमिदं प्रयुक्तम्। ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रा: सम्प्रसूयन्ते सर्वाणि चेन्द्रियाणि सहभूतानि। करणं सर्वमैश्वर्यं सम्पन्नं शिवमाकाशं मध्येध्रुवस्थम्।।६।।

नन्वन्यान् देवान् अपहाय ईशान एव किमिति ध्येय:? अत आह - **ईशा वेति। वा**शब्द एवार्थे। **ईशैव सर्वमिदं प्रयुक्तम् नान्येन**। ननु भवतु सर्वं प्रयुक्तम, न तु ब्रह्मादय:? अत आह - **ब्रह्मेति। इन्द्रो** मघवा। एते चत्वार **ईशा: सम्प्रसूयन्ते** जन्यन्ते; **सहभूतानि** भूतसहितानि **इन्द्रियाणि ईशा सम्प्रसूयन्ते**। पुन: किं किमीशा प्रयुक्तम्? अत आह - **करणमिति। करणं** साधकतमम् उपायभूतं **सर्वम्** ईशा प्रयुक्तमित्यर्थ:। स हि प्रथमम् उपायबोधक:। **ऐश्वर्यं** प्रभुशक्ति:। **सम्पन्नं** कार्यमात्रम्। निदर्शनाय सर्वकार्यमूर्धन्यम् आकाशमाह - **शिवमिति। शिवं** निर्मलम्। **मध्ये** सर्वस्यान्त:, **ध्रुवम्** एकरूपेण तिष्ठतीति **मध्येध्रुवस्थम् आकाशम्** ईशा प्रयुक्तं; तच्च वाय्वादीनाम् उपलक्षणम्। यद्वा **सम्पन्ना**दिचतुष्टयं शिवस्य विशेषणम्।।६।।

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरः शिव एव च। पञ्चधा पञ्चदेवत्यः प्रणवः परिपठ्यते ।।७।।

जन्यत्वशंकानिवृत्तये नादान्तग्रहणेन सूचितां प्रणवस्य पञ्चकूटतामाह - **ब्रह्मेति। पञ्चधाऽ**कारादिरूपेण।।**७**।।

तत्राधिकं क्षणमेकम् आस्थाय क्रतुशतस्यापि फलमवाप्नोति कृत्स्नमोंकारगतं च।।८।।

पञ्चात्मकस्य ज्ञाने फलमाह - **तत्रेति**। यत्राधिक्ये फलाधिक्यम् इति न्यायात्। तेन अवान्तरवस्तुशक्तेरनियम्यत्वात् **क्रतुशतस्य फलं** ततोऽपि **अधिकं** च प्राप्नोति। **कृत्स्नमोंकारगतं चेति। कृत्स्नमोंकार**पादादिकम् **ओंकारगतं च** ध्यात्वा **क्रतुशतस्यापि फलम् आप्नोति** इत्यनुषज्यते।।**८**।।

सर्वज्ञानयोगध्यानानां शिव एको ध्येयः शिवंकरः सर्वमन्यत् परित्यज्य।।९।।

परमोपदेशमाह - **सर्वेति। सर्वमन्यत् परित्यज्य** इति प्राक्तनेन सम्बन्धः। ईश एव परमो ध्येय इति चतुर्थम् उत्तरम् उपसंहृतम् ।।**९**।।

एताम् अधीत्य द्विजो गर्भवासाद् मुच्यते, गर्भवासाद् मुच्यत इति ।।१०।।

।। इति द्वितीयः खण्डः।।

।।इत्यथर्ववेदेऽथर्वशिखोपनिषत् समाप्ता।।

अध्ययनफलमाह - **एतामिति। एताम्** उपनिषदम् अपि अथर्वशिखासंज्ञाम्। **द्विज** इति शूद्रनिरासः। द्विरुक्तिः समाप्त्यर्था, **इति**शब्दश्च।।**१०**।।

।। इति द्वितीयः खण्डः।।

नारायणेन रचिता श्रुतिमात्रोपजीविना।
अस्पष्टपदवाक्यानां दीपिकाऽथर्वशैखिके।।

।। इति नारायणविरचिताऽथर्ववेदान्तर्गताथर्वशिखोपनिषद्-दीपिका समाप्ता।।

गुंफण